रामायण के महिला पात्र

डा. पांडुरंग राव

भारतीय जन-जीवन के साथ रामकथा का बहुत गहरा सम्बन्ध है। रामकथा के प्रथम प्रवक्ता महर्षि वाल्मीकि ने इसे इतनी रमणीय शैली में प्रस्तुत किया था कि वह न केवल परवर्ती कवियों के लिए अक्षय सम्बल प्रदान करती रही, बल्कि साधारण जनता भी अपनी दिनचर्या की कई जटिल समस्याओं को सुलझाने में इसके विभिन्न प्रसंगों और पात्रों से प्रेरणा लेती रही है। रामकथा के समालोचक इन प्रसंगों और पात्रों को कई दृष्टियों से समझने और समझाने का प्रयास करते रहे। फिर भी यह क्षेत्र इतना उर्वर और विस्तृत है कि इस संबंध में जितना कहा जाय उतना और कहने को रह जाता है। इसी दिशा में एक अभिनव प्रयास है—प्रस्तुत कृति 'रामायण के महिला पात्र'।

इसमें वाल्मीकि रामायण के मात्र महिला-पात्रों का आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ये पात्र हैं—जानकी, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, अहल्या, अनसूया, शबरी, स्वयंप्रभा, तारा, मन्दोदरी, त्रिजटा, और शूर्पणखा। इन पात्रों की सृष्टि के पीछे महर्षि की मनोभूमिका को हृदयंगम करने में, आशा है, पाठकों को इस कृति से एक नयी दृष्टि मिलेगी।

रामायण के महिला पात्र

रामायण के महिला पात्र

डॉ० पांडुरंग राव
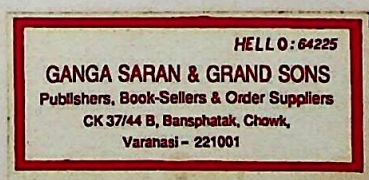
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

राष्ट्रभारती/
लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : 487

पहला संस्करण : 1990

रामायण के महिला पात्र

डॉ० पांडुरंग राव

मूल्य : 30.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

मुद्रक
पारस प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : तूलिकी

RAMAYANA KE MAHILA PATRA by Dr. Panduranga Rao. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003. Printed at Paras Printers, Navin Shahdara, Delhi.110032.
First Edition : 1990 Price : Rs. 30.00
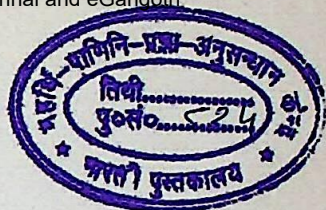
आमुख

डॉ० पाण्डुरंग राव की कृति 'रामायण के महिलापात्र' (वीमेन इन वाल्मीकि) में रामायण के बारह महत्त्वपूर्ण महिला पात्रों की भूमिका का विद्वत्तापूर्ण और रोचक विश्लेषण है। इन पात्रों का चयन करते समय लेखक ने इनके महत्त्व के साथ-साथ कुछ ऐसे विलक्षण गुणों को भी दृष्टि में रखा है जिनके ये प्रतीक या प्रतिनिधि हैं।

'रामायण के महिला-पात्र' में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के पात्रों का हृदय-ग्राही चित्रण प्रस्तुत किया गया है। समस्त सद्गुणों की आदर्श प्रतिमा तथा समस्त विभूतियों की साकार मूर्ति जानकी के साथ इसका आरम्भ करना और सभी दृष्टियों से जानकी की ठीक विपरीत प्रतिकृति शूर्पणखा के साथ इसका समापन करना सर्वथा समीचीन लगता है। दशरथ की सबसे छोटी रानी कैकेयी भी इसमें है जो अपनी पापदर्शिता की आप शिकार बन जाती है और साथ में वह कौशल्या भी है जो सत्य और धर्म के प्रति अपनी धीर गम्भीर निष्ठा के बल पर संकटपूर्ण परिस्थिति में अपनी उद्विग्न भावुकता पर विजय पाती है।

इनके अलावा अहल्या, तारा और मन्दोदरी भी हैं जो पंच-कन्याओं के अन्तर्गत आती हैं और अचंचल भक्ति-भावना की भव्य मूर्ति शबरी भी है। लंका में जानकी की रखवाली करने वाली त्रिजटा भी है जो राक्षसी होते हुए भी रामायण की भावी घटनाओं को प्रतिभासित करने वाले स्वप्न के दर्शन से अपने को अनुगृहीत मानती है। इनके अलावा भी कुछ और पात्र हैं जिनका इस महा-काव्य में अपना महत्त्व है।

इस छोटी-सी पुस्तक के सभी पात्र लेखक की जानकारी, सूझ-बूझ और प्रशस्य पारदर्शिता से प्रसूत हैं। अब तक अनेक कृतियों के कृतित्व से कृतकृत्य डॉ० पाण्डुरंग राव की लेखनी को यह रचना नयी शोभा प्रदान करती है।

16 मई 1978 — बी० डी० जत्ती

निवेदन

भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में विख्यात अर्थवेत्ता व परमार्थवेत्ता श्री चिन्तामणि देशमुख और उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की प्रेरणा से प्रस्तुत रचना का प्रणयन हुआ था। आज से लगभग 14 वर्ष पहले की बात है जब श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने अपनी संस्था 'आन्ध्र महिला सभा' की मुख पत्रिका 'विजय-दुर्गा' के लिए एक विचारवर्धक लेख लिखने का मुझसे अनुरोध किया था। अंग्रेज़ी और तेलुगु में प्रकाशित इस पत्रिका के लिए मैंने अंग्रेज़ी में लेख भेजा था जिसका शीर्षक था : 'जानकी इन वाल्मीकि'। देशमुख दम्पती को यह लेख इतना अच्छा लगा कि वे इसे लेखमाला का रूप देना चाहते थे। उनकी इच्छा के अनुसार जानकी से आरम्भ कर शूर्पणखा तक रामायण के विभिन्न महिला पात्रों पर मैंने कुल मिलाकर बारह लेख दिये। यह लेखमाला 'विजयदुर्गा' के बारह अंकों में लगातार एक वर्ष तक प्रकाशित हुई और पाठकों की प्रशंसा से प्रेरित होकर 'आन्ध्र महिला सभा' ने उसे 'वीमेन इन वाल्मीकि' के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित किया। लेखमाला के रूप में पहली बार अंग्रेज़ी में प्रकाशित इस रचना के प्रबुद्ध पाठकों में से प्रमुख थे भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती जिनका 'आमुख' इस प्रयास का प्रभापक है। यह सारा काम 1976 में हुआ था।

बाद में अखिल भारतीय रामायण सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए जब मैं चित्रकूट गया तो वहाँ पर महात्मा गाँधी के अनुयायी और 'गाँधी मार्ग' के सम्पादक बाबू भवानी प्रसाद मिश्र से भेंट हुई। इस अंग्रेज़ी पुस्तक पर उनकी सुरुचिपूर्ण दृष्टि पड़ी तो उन्होंने इसका हिन्दी रूपान्तर 'गाँधी मार्ग' में लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया। भवानी बाबू की भव्य भावना का परिणाम है प्रस्तुत रचना—'रामायण के महिला पात्र'। न मालूम, किस समाहित क्षण में इस रचना की परिकल्पना मेरे मन में उदित हुई, और उसी का प्रभाव है कि आज यह रचना तेलुगु, कन्नड और बांग्ला में भी उपलब्ध हो रही है।

वास्तव में रामायण पिछले तीस वर्षों से लगभग मेरे बहि:प्राण के समान मुझे सहारा देती रही है। रामकथा का भारतीय जनजीवन के साथ भी लगभग इसी प्रकार का सम्बन्ध रहा है। प्राचेतस की प्रतिभा ने इस कथा को इतना रमणीय और मननीय शैली में प्रस्तुत किया कि यह केवल कथा न रहकर गाथा बन गयी है। दैनन्दिन जीवन में मानव-मन को सम्बल और मनोबल प्रदान करने वाली अक्षयनिधि इस महाकाव्य में निहित है। रामकथा के पात्र केवल कवि-कल्पना से प्रसूत कमनीय पात्र नहीं हैं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षण में हमारे अनुभव में आने वाले यथार्थ और मननीय पात्र हैं। रामकथा के समालोचक इन पात्रों को कई दृष्टियों से परखने, समझने और समझाने का प्रयास करते रहे। समीक्षण का यह क्षेत्र इतना उर्वर और व्यापक है कि इस सम्बन्ध में जितना कहा जाये, उतना और कहने को रह जाता है। प्रस्तुत विश्लेषण में मैंने इसी समीक्षण को आत्म-निरीक्षण का रूप देने का विनम्र प्रयास किया है।

रचना का नाम 'रामायण के महिला पात्र' रखा गया है, हालाँकि यहाँ पर 'रामायण' शब्द से केवल 'वाल्मीकि रामायण' ही अभिप्रेत है। इसमें प्रत्येक पात्र का परिशीलन वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'रामायण' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करते हुए कहा था—"यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि"। जैसे गीता कहने मात्र से 'श्रीमद्-भगवद्गीता' का और सहस्रनाम का उल्लेख करने से 'श्री विष्णु-सहस्रनाम' का बोध होता है, उसी प्रकार 'रामायण' से केवल वाल्मीकि रामायण का ही बोध होना चाहिए, क्योंकि 'रामायण' शब्द वाल्मीकि की निजी उद्भावना है। आदि-कवि की आर्ष भावना के अनुसार रामायण केवल रामकथा नहीं है, बल्कि वह प्रमुखत: राम का अयन है और इसी दृष्टि से उन्होंने रामकथा को प्रस्तुत किया है। 'अयन' शब्द से गतिशीलता का बोध होता है और यही गतिशीलता रामकथा की प्राण-नाड़ी है। राम की जीवन-यात्रा का सूक्ष्म विश्लेषण कर देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि उनके जीवन में गति ही गति है। बाल्यकाल में ही महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने उनके साथ चल पड़ना इस गतिशीलता का शुभारम्भ है। राजतिलक का प्रसंग भी दैवयोग से टल जाता है। जो राम अयोध्या में आराम से राजभोग का अनुभव कर सकते थे, उन्हें अचानक वनवास की आज्ञा मिलती है। इसे अयनप्रिय राम लोक-कल्याण के उदात्त परिप्रेक्ष्य में आँक कर जीवन का स्वर्णिम अवसर मानते हैं। अपनी सहज निर्लिप्त सात्विकता को स्वर देते हुए सत्यपराक्रम राम कहते हैं—"राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदय:।" राज्य और वनवास में अयनशील राम को कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, बल्कि उनका अन्तर्मन कहता है कि वनवास में लोककल्याण की जो सम्भावना है, वह सम्भवत: राज्य के पालन में नहीं है। यही अयनशीलता या गतिशीलता राम के जीवन की मौलिक चेतना है

जिसे आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी कृति के नामकरण में अभिमंत्रित करते हुए उसका नाम रखा था—'रामायण'। इस प्रकार उनकी कृति ने सर्वप्रथम 'रामायण' की संज्ञा से अभिहित होने का गौरव प्राप्त किया था। बाद में जितने राम-काव्य लिखे गए, उनको अयनशील बनाने की प्रेरणा इसी आदि काव्य से मिली है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत रचना के नामकरण में केवल 'रामायण' शब्द का प्रयोग कर उससे 'वाल्मीकि रामायण' का बोध कराने का प्रयास किया गया है।

वास्तव में रामायण केवल राम का अयन नहीं है; बल्कि रामा (सीता) का भी अयन है। दोनों का यह समन्वित अयन है इस बात को मैंने जानकी के विश्लेषण में स्पष्ट किया है। दशरथनन्दन राम और जनकतनया जानकी एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। सीता पृथ्वी की पुत्री है और राम आकाश के स्वामी आदित्य के वंशज हैं। पृथ्वी और आकाश अलग-अलग दिखाई देने पर भी तत्त्वतः एक हैं, एक ही ब्रह्माण्ड के पिण्ड हैं। सीता-राम की भावना में भी यही अभेद देखकर गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था :

> गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
> वन्दौं सीताराम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न ॥

आश्चर्य की बात यह है कि सीता-राम के जीवन में सुख-शान्ति कहीं दिखाई नहीं देती। केवल दुख-ही-दुख है, विषाद-ही-विषाद है। लेकिन इसी विषाद को दोनों की लोकोत्तर चेतना ने प्रसाद के रूप में स्वीकार किया है। विषाद को प्रसाद बनाने की इस लोकोत्तर साधना में जानकी और दाशरथी का सारा जीवन समर्पित रहा। रामायण इसी समर्पण की स्वर लहरी है जिसमें दोनों के स्वर समाहित और समेकित हैं।

विषतुल्य विषाद को अमृततुल्य प्रसाद का रूप देने वाले इसी अभेद की आराधिका जानकी के चित्रण के साथ मैंने यह विश्लेषण प्रारम्भ किया। जानकी का एकदम विपरीत रूप हमें दिखाई देता है शूर्पणखा में। दोनों के लिए राम परम प्रिय हैं। लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। जानकी के प्रेम में उपासना की भावना है जबकि शूर्पणखा के प्रेम में केवल वासना का आकर्षण है। इसी अन्तराल को आलोकित करने वाले प्रस्तुत विश्लेषण में मैंने प्रारम्भ में जानकी को लिया और अन्त में शूर्पणखा को। शेष सभी पात्र इन दोनों के बीच में आते हैं। इसमें भी एक क्रम देखा जा सकता है। राजमाता कैकेयी, राममाता कौशल्या और ललितभाषिणी सुमित्रा में दशरथ की तीनों रानियों के तीन रूप दिखाई देते हैं। वाल्मीकि ने अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में इन तीनों रानियों को क्रमशः कीर्ति, ह्री और श्री की उपमा दी है। कीर्ति-

कामिनी कैकेयी, वात्सल्यमयी कौशल्या और सुमतिमती सुमित्रा के चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि की चिन्मय भावना परिलक्षित होती है। इसीलिए इन तीनों पात्रों को एक साथ देखने का प्रयास किया गया है।

इसी प्रकार अहल्या और अनसूया, शबरी और स्वयंप्रभा एवं तारा और मन्दोदरी भी आपस में बहुत कुछ साम्य रखने वाली महिलाएँ हैं। स्वयंप्रभा के सम्बन्ध में बहुत कम लोग जानते हैं। परन्तु रामायण की सभी महिलाओं में स्वयंप्रभा ही एकमात्र महिला है जिसको हम एकान्तवासिनी तपस्विनी कह सकते हैं। इसके समकक्ष केवल शबरी आती है। अन्तर केवल इतना ही है कि शबरी को श्रीराम के चरणों की सेवा करने का अवसर मिला था जबकि स्वयंप्रभा श्रीराम की मौन आराधना से ही सन्तुष्ट रही। वह सच्चे अर्थों में स्वयंप्रभा है।

इसी प्रकार की विलक्षण साध्वी है त्रिजटा, जोकि राक्षस परिवार में रहते हुए भी राम के प्रति पूज्य भावना रखती है। शोकाकुल सीता के सामने बैठकर भी वह सीता-राम के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखती है। ऐसा लगता है कि वह माण्डूक्य उपनिषद् की प्राज्ञ भावना में प्रतिष्ठित होकर परम सत्य का साक्षात्कार कर रही है।

इस रचना में परिर्चाचित बारह महिलापात्रों में मन्थरा नहीं है। मन्थरा, मेरी दृष्टि में, कैकेयी से भिन्न नहीं है। वाल्मीकि के शब्दों में वह कैकेयी की ज्ञातिदासी और 'सहोषिता' है। वह कैकेयी के अन्तर में 'ह्रसीयसी' के रूप में निरन्तर निवास करती है। इसलिए वह कैकेयी में ही अन्तर्भुक्त है। उसका नाम ही मन्थरा है जो अचानक कैकेयी के प्रासाद (राजमहल) में ऊपर चढ़कर राम के राजतिलक की तैयारियाँ देखकर एकदम नीचे उतर आती है। इस 'उतार-चढ़ाव' में रसशिल्पी वाल्मीकि ने मन्थरा का एक ऐसा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया जो उसे कैकेयी की अन्तरंगिणी बना देता है।

वास्तव में प्राचेतस वाल्मीकि की प्रत्येक सृष्टि अपने आपमें विशिष्ट उपनिषदीय दृष्टि है। इसे हृदयंगम करने के लिए इष्टि की भावना अपेक्षित होती है। इसी दृष्टि से आदिकवि की अनर्घ रचना के अंतरंग को समझने का प्रयास किया गया है प्रस्तुत रचना में। इससे महर्षि की मनोभूमि को समझने में पाठकों को कुछ प्रेरणा मिल सके तो यह प्रयास प्रयोजनमूलक सिद्ध होगा।

श्रीपंचमी
31-1-90

— पांडुरंग राव

क्रम

जानकी

प्रायः समझा जाता है कि 'रामायण' दशरथ के पुत्र राम की कथा है, किन्तु रामायण केवल राम की कथा नहीं है, बल्कि राम का अयन है।—'अयन' का शाब्दिक अर्थ प्रयाण या अभियान होता है। यह फिर केवल अयोध्या के राजकुमार राम का ही अयन नहीं है, वरन् राजा जनक की पुत्री—जानकी के रूप में मूर्त लावण्य का भी अयन है। 'रामायण' शब्द का दो तरह से विग्रह किया जा सकता है—राम का अयन और रामा का अयन। इससे रामायण का अर्थ बनता है— राम और सीता का समन्वित अयन, अभियान या चरित्र। इस प्रकार वाणी के धनी और चरित्र-चित्रण के सिद्धहस्त चित्रकार वाल्मीकि ने एक ही शब्द—रामायण—से राम और उनकी प्रिया जानकी को अपनी अमर रचना—रामायण—में समान महत्त्व देने का प्रयास किया है। इस प्रकार रामकथा में जानकी को भी राम के समान महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अपने महाकाव्य में एक से अधिक स्थानों पर वाल्मीकि ने जानकी के पर्यायवाची शब्द के रूप में 'रामा' शब्द का प्रयोग किया है। एक ऐसे ही अवसर पर उन्होंने एक ही श्लोक की एक ही पंक्ति में—सम्भवतः इस बात को सुस्पष्ट करने के लिए—'राम' और 'रामा' शब्द का प्रयोग किया है। राम की अनिच्छा के बावजूद जब जानकी स्वतः आग्रहपूर्वक राम के साथ वन में जाती हैं तो वह वन की सुन्दरता को देखकर किसी बाला—छोटी बच्ची—के समान प्रसन्न होती हैं। वाल्मीकि ने उनके कौतूहल को बड़ी ही अभिव्यंजनापूर्ण भाषा में व्यक्त किया है—

"बालेव रमते सीता बालचन्द्र-निभानना।
रामा रामेह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती॥"

यहाँ प्रयुक्त 'राम' और 'रामा' शब्द इस तथ्य के अभिव्यंजक हैं कि दाशरथी और जानकी एक ही परम सत्य के दो पहलू हैं। मूल शब्द राम है जो पुंल्लिग में

दाशरथी का द्योतक बनता है और स्त्रीलिंग में जानकी बनता है। इन दो व्यक्तियों के बीच इसी प्रकार की अभिन्नता हनुमान् द्वारा महसूस की गयी थी, जब उन्होंने जानकी को पहली बार लंका में अशोक वृक्ष के नीचे देखा था। वह राम के साथ उनकी शारीरिक समरूपता को देखकर आश्चर्य में पड़ गये थे। यदि पिता-पुत्र, माँ-बेटी या एक ही पिता की सन्तान में सादृश्य हो तो बात समझ में आ सकती है। किन्तु पति-पत्नी में इस प्रकार का सादृश्य पाया जाना वास्तव में अजीब है। हनुमान् इस रहस्यमय अद्भुत घटना पर कहते हैं—

"अस्या देव्या यथा रूपं अंग-प्रत्यंग-सौष्ठवम्।
रामस्य च यथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा॥"

जानकी को 'देवमायेव निर्मिता' कहकर उनका यही रहस्यमय चरित्र अंकित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दिव्य रहस्य द्वारा उनकी रचना हुई है। उनके व्यक्तित्व का सबसे अधिक रहस्यात्मक पक्ष बालकाण्ड में उनकी आश्चर्यजनक चुप्पी है। वाल्मीकि द्वारा चित्रित जानकी, विवाह के अवसर पर या उससे पहले जनसाधारण के सामने एक शब्द भी नहीं बोलतीं। उनके शारीरिक सौन्दर्य का भी कोई विस्तृत प्रस्तुतीकरण नहीं किया गया। युवा राम के असाधारण पराक्रम की प्रशस्त मान्यता के प्रतिपण के रूप में राम को जीवन-साथी के रूप में जानकी उनके पिता द्वारा भेंट दी गयी थी। वाल्मीकि ने विवाह को बड़ी सादगी से सम्पन्न कराया है, जबकि रामायण के कुछ अन्य रूपान्तरों में ऐसे अवसर पर कवियों ने अपने वर्णन को अधिक से अधिक चित्रात्मक तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

वाल्मीकि रामायण में जानकी पहली बार तब बोलती हैं जब वह वन-गमन के अवसर पर राम के साथ जाने की अनुमति चाहती हैं। पति के मुख पर दु:ख की छाया देखने पर वह कहती हैं—"प्रभु, आपको क्या हो गया है?" वह वनवास की खबर से ज़रा भी उदास नहीं होतीं और राम की देखभाल, रास्ते की बाधाओं को दूर करने तथा उन्हें सब तरह से प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ वन जाने की उत्सुकता ज़ाहिर करती हैं। जब राम वन की कठिनाइयों को विस्तार से उन्हें बताकर अपने साथ ले जाने में अनिच्छा व्यक्त करते हैं तब वह राम को सहज प्रसन्नता के साथ, सहसा यह भरोसा दिलाती हैं कि वह वन में उन पर किसी भी तरह का भार नहीं बनेंगी। बहुत समझाने पर भी जब राम उनकी बात नहीं मानते हैं तब वह एक अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए कहती हैं, "यदि मेरे पिता को पता होता कि राम इतने डरपोक हैं तो वह आपके साथ मेरा विवाह न करते।" इस बात पर राम चुप हो जाते हैं और फिर अन्त में उन्हें अपने साथ वन में ले जाने के लिए सहमत हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जानकी

स्वभावतः कम बोलने पर भी अवसर आ पड़ने पर विनम्रता के साथ कितनी दृढ़ता दिखा सकने वाली साहसी महिला हैं।

जानकी के चरित्र का प्रथम और प्रमुख गुण है अपने पति के प्रति अबाध और अगाध प्रेम। जब कौशल्या जानकी को राजसी सुख-सुविधाएँ छोड़कर वन-जीवन में अपने पति के प्रति कर्तव्यों को सुझाने का प्रयत्न करती हैं तो जानकी अपने विशिष्ट ढंग से उन्हें सान्त्वना देती हैं कि वह अपने जीवनस्वरूप राम के बिना अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना तक नहीं कर सकतीं। वह कहती हैं कि जैसे किसी वाद्य-यन्त्र में बिना तार के कोई गुंजन नहीं हो सकता, जैसे रथ में चक्र के बिना कोई गति नहीं हो पाती वैसे ही पति के बिना पत्नी को कोई सुख नहीं मिल सकता, चाहे वह सौ पुत्रों की माँ क्यों न हो। जानकी सभी परिस्थितियों में, चाहे वह राजमहल में रहें, या अन्तरिक्ष में घूमें, अपने पति के साथ रहकर ही प्रसन्न रह सकती हैं। उनके लिए पिता, भाई और यहाँ तक कि पुत्र से प्राप्त खुशियाँ भी पति से प्राप्त खुशियों की तुलना में सीमित ही हैं। जानकी के ये शब्द कौशल्या को चौदह वर्षों तक स्वयं अपने को बनाये रखने का बल देते हैं।

जानकी की अत्यधिक मधुर वाणी तब भी सुनी जा सकती है, जब वह अपनी कथा अनसूया को सुनाती हैं। जिनके हाथ में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु और संहारक महेश भी पालने झूल रहे बच्चे के समान हैं, ऐसी महिला अनसूया जानकी के मुख से उनके विवाह की कथा सुनना चाहती हैं। इसलिए नहीं कि वह उस कथा से परिचित नहीं हैं, बल्कि इसलिए कि वह मानवीय भाषा में दिव्य दृष्टि की अभिव्यक्ति पर मुग्ध होकर उसे सुनने का आनन्द पाना चाहती थीं। जानकी के सुखद शब्दों की मधुरतम अभिव्यक्ति पर प्रसन्न होकर अनसूया ने उन्हें सदैव स्वच्छ बनी रहने वाली साड़ी तथा स्निग्ध प्रसाधन सामग्री उपहार में दी। परम साध्वी अनसूया से सम्मानित अपनी सीता को देखकर राम भी उनका अभिनन्दन करते हैं।

जानकी अपने सभी कामों में पति-भक्ति तथा पूर्ण समर्पण की भावना से युक्त होने पर भी राम का अन्धा अनुसरण नहीं करतीं। उनका अपना व्यक्तित्व है। वह राम के कामों पर शंका उत्पन्न होने पर उसे व्यक्त करने में संकोच नहीं करतीं। उदाहरणस्वरूप जब राम दण्डकारण्य में सभी दानवों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा करते हैं तो वह बड़ी नम्रता और शिष्टता से पूछती हैं कि ऐसे निरीह प्राणियों को, जो उन्हें हानि नहीं पहुँचा रहे हैं, नष्ट करना कहाँ तक न्याय-सगत है। राम उनकी वास्तविक शंका का आदर करते हैं और उनको सन्तुष्ट करने के लिए अपने निर्णय की व्याख्या करते हैं।

सीता वनवास के समय अपनी सुरक्षा के विषय में नहीं, वरन् अपने पति राम तथा उनके भाई लक्ष्मण के लिए चिन्तित रहती हैं, क्योंकि उन्हें उनके

कारण कष्ट उठाना पड़ा है। दण्डक-वन में सबसे पहले उनको विराध नामक राक्षस का सामना करना पड़ता है। यह राक्षस पहले जानकी को उठाकर ले चलता है। फिर राम-लक्ष्मण को विरोधी पाकर जानकी को छोड़ देता है और दोनों राजकुमारों को ले जाने की कोशिश करता है। इस संकट-काल में सीता उस राक्षस से अनुरोध करती हैं कि वह दोनों राजकुमारों को छोड़कर स्वयं उन्हें ले जाये। असामान्य मनोबल वाली सीता के अतिरिक्त कोई साधारण महिला इस प्रकार की बात नहीं कह सकती।

जानकी स्वभावतः निर्भीक हैं। जब रावण बुरे उद्देश्य से वेश बदलकर उनके पास आता है तो वह उसे सचमुच साधु मानकर उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करती हैं। उसे आदर सहित कन्दमूल फल भेंट करके अपने पति के लौट आने तक प्रतीक्षा करने को कहती हैं। जब रावण अपने असली रूप में प्रकट होकर उनका अपहरण करने की कोशिश करता है तब भी वह उससे साधु के समान व्यवहार करने तथा अपने जीवन को राम के हाथों खतरे में न डालने का अनुरोध करती हैं। लंका में भी वह इसी भाव को बनाये रखती हैं। जब रावण अपने को राम से अधिक श्रेष्ठ दिखाकर उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करता है, तब भी वह उसे उचित उत्तर देने में संकोच नहीं करतीं तथा उसे उसके दुर्व्यवहार के दुष्परिणाम से सावधान करती हैं। वह बराबर उसे 'साधु' कहकर सम्बोधित करती हैं। वास्तव में ऐसे दुराचारी व्यक्ति को साधु शब्द से सम्बोधित करने के लिए उच्च संस्कार से सम्पन्न होना आवश्यक है।

लंका में जानकी तथा हनुमान् के परस्पर मिलन की घटना महत्त्वपूर्ण है। सांसारिक माया से घिरे हुए दानव, रावण के राज्य में सीता का पता लगाने के लिए राम द्वारा नियुक्त वायु-पुत्र हनुमान् मानवीय वाग्विलास का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह अपने स्वामी सुग्रीव के सीधे नियन्त्रण और निरीक्षण में थे। सुग्रीव और उनके मित्र राम को ऐसा विश्वास है कि हनुमान् अकेले सीता को ढूंढ़ लेंगे। इन सब बातों से ऐसी अनुभूति होती है कि यह खोज किसी महिला की नहीं है, यह उस परम रमणीयता के परिपूर्ण दर्शन को प्राप्त करने की साधना है जिसे अपने प्रभु की कृपा तथा अनुकम्पा से कोई निष्ठावान् मानव प्राप्त कर सकता है। इस दर्शन की परिकल्पना हनुमान् ने सीता को अशोक वृक्ष के नीचे बैठी देखने से पहले ही की। सीता की खोज करते समय आशान्वित स्वर में हनुमान् कहते हैं—

"तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणं,
शुचिस्मितं पद्म-पलाश-लोचनम्।

द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदान्वहं,
प्रसन्न-ताराधिप-तुल्य-दर्शनम् ।

अर्थात् उन्नत नासिका, श्वेत और स्वस्थ दाँत, आत्मा को शुद्ध करने वाली मुस्कान तथा कमल जैसे नेत्रों से युक्त होकर असंख्य तारिकाओं से घिरे हुए सुन्दर शशि के समान चमकते हुए मुख को देखने का सौभाग्य मुझे कब मिलेगा ? यही वह दृष्टि है जो सीता के चरित्र का चित्रण करते समय वाल्मीकि के मन में विद्यमान थी। यह इतनी एकान्त और समग्र है कि इसका दर्शन करने पर और कुछ देखने को नहीं रह जाता।

वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में यह भव्य दृष्टि अधिक परिमार्जित और परिष्कृत रूप में सामने आती है। सुन्दरकाण्ड वाल्मीकि की काव्य-प्रतिभा और आर्ष दृष्टि का श्रेष्ठतम उदाहरण माना गया है। सुन्दरकाण्ड का नाम भी इसी उद्देश्य से रखा गया है। विभिन्न आलोचकों एवं टीकाकारों ने इस नामकरण की विभिन्न व्याख्याएँ दी हैं। ऐसा कहा जाता है कि इस अध्याय में ऐसा कोई भी अंश नहीं है जिसे सुन्दर न कहा जा सके। यहाँ पर प्रस्तुत प्रत्येक क्षण एवं आचरण सुन्दर है। वास्तविकता यह है कि इसमें केवल सुन्दर वस्तु ही प्रस्तुत नहीं की गयी है, बल्कि जानकी के रूप में सुन्दरता ही इसमें मूर्तीभूत या साकार हो चुकी है।

हनुमान् ने सारी लंका छान डाली तथा अन्ततोगत्वा अपने स्वामी की सन्तुष्टि और अपने हृदय को प्रसन्नता देने वाली खोज में सफल हुए। सुन्दरता का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्षों में यह अन्तर्दर्शन ही सुन्दरकाण्ड को सार्थक और सारगर्भित बनाता है।

रामायण के इस प्रसंग के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि जानकी यहाँ अधिक मुखर हैं। शारीरिक रमणीयता की साकार मूर्ति जानकी को देखकर हनुमान् बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं कि रावण के दुष्ट व्यवहार के प्रति उनकी प्रतिक्रिया कैसी होगी। हनुमान् जब जानकी को देखते हैं तब जानकी की दृष्टि हनुमान् पर नहीं पड़ती है। जानकी की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने में हनुमान् को पन्द्रह सर्गों के अन्तराल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस अवधि में हनुमान् की मानसिक दशा को अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है। उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। जब जानकी हनुमान् को देख लेती हैं तब हनुमान् सावधानीपूर्वक अपना परिचय देते हैं और अपने निर्मल मन और विशुद्ध आशय से उन्हें आश्वस्त बनाने की कोशिश करते हैं। उनका विश्वास प्राप्त करने के बाद वह इस बात को पक्का करना चाहते हैं कि यह वास्तव में वही जानकी हैं, जिनकी वह अब तक खोज करते रहे। फिर वह जानकी को अपने कन्धों पर

बैठाकर राम के पास ले जाने का एक प्रस्ताव उनके सामने रखते हैं। किन्तु जानकी इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं करती हैं और कहती हैं कि रावण जिस ढंग से उन्हें उठाकर ले आया है, उसी तरह उनका यहाँ से भाग निकलना उचित नहीं है। उचित तो यही है कि राम रावण का सामना करें, उसे युद्ध में पराजित करें और फिर उन्हें सामर्थ्य और शालीनता के साथ प्राप्त करें। यह सुनकर हनुमान् को जानकी का पूर्ण दर्शन मिलता है। वह उनसे सीता-दर्शन के प्रमाण के रूप में राम को देने के लिए चूड़ामणि प्राप्त करते हैं।

जानकी की अन्तरात्मा की पवित्रता उस समय और स्पष्ट होती है जब हनुमान् की पूंछ में आग लगा दी जाती है और वह उससे झुलस जाने के बदले सारी लंका में आग लगा देते हैं। पर वह शीघ्र ही यह सोचकर उदास हो जाते हैं कि जल्दबाज़ी और ग़ुस्से में किये गये इस काम से कहीं सीता भी अग्निकाण्ड की चपेट में न आ गयी हों। सारी लंका तो जलकर राख हो ही गयी थी। परन्तु वह सीता को सुरक्षित पाते हैं। विवेक से विचार करने पर वह यह महसूस करते हैं कि सीता की पवित्रता ने ही उन्हें जलने से बचाया है। उनके प्रभाव से आग भी चन्दन का स्निग्ध लेप बन जाती है। जानकी इतनी पवित्र और उदार थीं कि वाल्मीकि को उनमें केवल सुन्दरतम मूर्ति को छोड़कर और कुछ नहीं दिखाई देता और यही श्रेष्ठ सौन्दर्य सुन्दरकाण्ड में प्रस्तुत है।

किष्किन्धा लौटने पर हनुमान् इस दिव्यदर्शन का विवरण राम को देते हैं। विवरण में पहला शब्द है—'दृष्टा'। इस तरह जानकी 'परिपूर्ण दृष्टि' का प्रतिनिधित्व करती हैं जब कि हनुमान् उस दृष्टि के अनुग्रह से प्राप्त वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुन्दरकाण्ड में ये ही दो मुख्य पात्र हैं, अन्य सब पृष्ठभूमि में हैं। रावण तथा अन्य दानव हनुमान् की प्रवृत्ति तथा जानकी की दृष्टि को प्रकाश में लाने के लिए सामने आते हैं। किसी भी वस्तु का वास्तविक सौन्दर्य विषम परिस्थितियों में ही देखा जाता है। रावण के राज्य में सर्वाधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में सीता और हनुमान् का ऐसा विशिष्ट सौन्दर्य प्रकट होता है।

जानकी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह दूसरे का बुरा नहीं सोचतीं, चाहे वह कितने ही बुरे विचारों वाला क्यों न हो। राम के विषय में चिन्तित होने पर लक्ष्मण के प्रति बोले गये, कठोर शब्दों के लिए वह बार-बार पछताती हैं। कभी वह अनुभव करती हैं कि उनकी दुखद स्थिति उनके दुर्भाग्य और बुरे बर्ताव के कारण बनी है। दूसरों की ग़लतियों को भुलाकर उन्हें क्षमा करने के लिए वह सदैव तत्पर रहती हैं। हनुमान् को उनकी अमूल्य सेवाओं के लिए उचित पुरस्कार देने की स्थिति में न होने के कारण वह अपने को असहाय महसूस करती हैं। जब हनुमान् उनको तंग करने वाले दानवों को नष्ट करने के लिए उनसे अनुमति चाहते हैं तो वह उनसे उदारतापूर्वक कहती हैं कि यह उनकी गलती

नहीं है, यह तो मेरी नियति है जिसके कारण यह सब कुछ हुआ। वह उन्हें जीवन-दान देती हैं और जल्दी-से-जल्दी स्वामी से मिलने की इच्छा व्यक्त करती हैं। परन्तु इस इच्छा में कोई आतुरता नहीं है, बल्कि वही प्रशान्तता है जो उस समय पहली बार देखने को मिलती है जब वह हनुमान् के कन्धे पर बैठकर अपने पति के पास तत्काल पहुँच जाने की बात को बड़ी नम्रता से अस्वीकार कर देती हैं। इस प्रसंग में हनुमान् को जानकी के सन्तुलित व्यक्तित्व को देखने का एक अन्य अवसर मिलता है। सीता की अग्नि-परीक्षा में हनुमान् को जानकी का अपूर्व रूप देखने को मिलता है। विभीषण द्वारा जानकी को अपने सम्मुख लाये जाने पर राम घोर मानसिक संघर्ष में पड़ जाते हैं। वह जानकी की पवित्रता के विषय में पूरी तरह जानते हैं। वियोग की दीर्घ अवधि के बाद पति से मिलने पर विरहिणी सीता के मन में किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा होती है, इसकी भी वह सहजता से कल्पना कर सकते हैं। परन्तु वह जीवन के महोन्नत आदर्शों को स्थापित करने की ज़िम्मेदारी के प्रति अधिक सचेत हैं, इसलिए वह सीता को एक सामान्य मनुष्य की तरह नहीं अपनाना चाहते हैं। यही कारण था कि उन्होंने सत्य और धर्म के लिए हुए महान् युद्ध में भाग लेने वाले सैनिकों और नागरिकों की उपस्थिति में सबके सामने सीता से मिलने को वरीयता दी। यदि वे उनसे सामान्य ढंग से अकेले मिलते तथा अपेक्षित सान्त्वना देते तो यह मिलन एक पारिवारिक मामला बनकर रह जाता। वस्तुतः कैकेयी से विदा लेते समय राम ने उनसे कहा था कि वह अयोध्या के राजमहल तक ही सीमित रहना पसन्द नहीं करते। बल्कि सारा संसार उनके आवास की प्रतीक्षा में है। यह भूमिका तथा लक्ष्मण के प्रति जानकी का व्यवहार उनके सामने था। सारी बातें एक क्षण में उनके मन में घूम गयीं और उन्होंने कहा, "चाहे कुछ भी न हुआ हो, लंका में एक वर्ष रहने पर मैं तुम्हें अपनाने तथा अयोध्या ले जाने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। तुम रावण के हाथों से मुक्त हो गयीं—अब अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने के लिए तुम स्वतन्त्र हो।" हनुमान् और लक्ष्मण इस आश्चर्यजनक वचन के आघात से मूक रह गये। हनुमान् के लिए जानकी के गौरव-पूर्ण चरित्र को देखने का यह तीसरा अवसर आया। अपने पति की निर्मम और कठोर टिप्पणी की प्रतिक्रिया-स्वरूप, राम के विलक्षण व्यवहार पर वह आश्चर्य प्रकट करती हैं और कहती हैं कि 'यदि आपको वास्तव में मेरी पवित्रता और चरित्र पर सन्देह था तो हनुमान् के माध्यम से यही क्यों नहीं कहला दिया। इससे आप और मेरे लिए लड़ने वाले ये सारे लोग शारीरिक और मानसिक यातना से बच जाते।' जानकी राम से स्पष्ट रूप से कहती हैं कि 'आश्चर्य है कि आप मुझमें केवल दुर्बलता, चंचलता तथा अवगुणों से पूर्ण एक साधारण स्त्री को ही देख पाये हैं!' वह उनकी दया के लिए प्रार्थना नहीं करतीं। वह इस दुनिया के

सबसे अधिक पवित्र तत्त्व अग्नि से शरण माँगती हैं। वह सोचती हैं कि जो कठोर वचन उनसे कहे गये हैं, उनसे अग्नि ज़्यादा भयंकर नहीं हो सकती—जातवेद अग्नि के सामने हाथ जोड़कर वह उससे अनुरोध करती हैं—

"यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ।।"

वह अग्नि में कूद जाती हैं। जानकी के स्पर्श से अग्नि पवित्र हो जाती है और चन्दन के लेप के समान शीतल हो जाती है। पूरी विनम्रता से अग्नि-देवता जानकी को अपनी गोद में लेकर उनकी पवित्रता, शुद्धता और निष्ठा का प्रमाण देकर राम को लौटा देते हैं। यही तो राम चाहते थे—वह खुश होते हैं कि उनकी जीवन-संगिनी जानकी उन्हें सुरक्षित वापस मिल गयी।

अयोध्या के परिसर में फैलने वाली अफ़वाह के आधार पर जानकी को वन में भेजना, उनके लिए सबसे बड़ा आघात था। वहाँ भी वह मूक रहकर दुख उठाती हैं। वाल्मीकि के आश्रम में शरण लेकर अपने भाग्य के बारे में सोचते हुए अपने दो बच्चों का पालन करती हैं। पर कभी भाग्य सुधारने की कोशिश नहीं करतीं। घटनाओं के सहज क्रम में जब राम अपनी पत्नी की दुर्दशा एवं पुत्रों के प्रताप के बारे में जानते हैं तो जानकी विवश होकर राम के दरबार में जाती हैं, किन्तु वहाँ भी वे दया की भीख नहीं माँगतीं। वास्तव में वह अपने कारण किसी भी तरह से राजा राम की प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देना चाहतीं। वह पृथ्वी माता से निर्भीक होकर अनुरोध करती हैं कि वह अपनी बेटी को अपनी बाँहों में लेकर शाश्वत शरण एवं शान्ति प्रदान करें—

"मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ।।"

अर्थात् यदि मन, कर्म और वचन से मैं राम की अर्चना करती रही हूं तो पृथ्वी माता मेरे लिए उष्णता और स्नेह से युक्त अपने हृदय में जगह बनायें।

इस तरह जानकी जिस पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं, उसी पृथ्वी में समा जाती हैं। जानकी के चरित्र का यही दिव्य रहस्य है।

यह सीता हमें वाल्मीकि ने दी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मानव संस्कृति के इतिहास में अहल्या, द्रौपदी, तारा और मन्दोदरी के साथ जानकी को भी पाँच महिलाओं में गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पाँच में से कम-से-कम तीन वाल्मीकि की सृष्टियाँ हैं। उनमें अग्रगण्य जानकी हो सकती हैं। जानकी सचमुच वाल्मीकि की अद्भुत और रहस्यमय सृष्टि है जिसके बारे में तपस्वी वाल्मीकि ने स्वयं कहा है—"सीतायाश्चरितं महत्"। रामायण केवल राम का ही नहीं, बल्कि सीता का भी महान् चरित है।

कैकेयी

वाल्मीकि ने, यदि जानकी को दिव्य रहस्य की रचना (देवमायेव निर्मिता) कहा है तो कैकेयी को वे मानवीय रहस्य की मननीय मूर्ति के रूप में चित्रित करते हैं । कैकेयी अश्वपति की पुत्री एवं राजा दशरथ की सबसे छोटी पत्नी हैं। उन्हें लोग मोहक, सुन्दरी, अद्भुत साहसी तथा आसुरी आकांक्षा वाली महिला के रूप में जानते हैं । आसुरी-प्रवृत्ति की अधिकता ने, उनमें अन्य महान् गुणों के होते हुए भी, उन्हें सर्वसाधारण के निकट तिरस्कार का पात्र बना दिया। सम्भ्रान्त परिवार में जन्मी, अनेक अच्छे गुणों और उदार हृदय से सम्पन्न यह महिला, अचानक अमानवीय और क्रूर आचरण पर उतर आती है और उसका व्यवहार रहस्यात्मक हो जाता है । अनेक कवियों, दार्शनिकों और विद्वानों ने विभिन्न कोणों से उसके व्यवहार का विश्लेषण करने की कोशिश की है। फिर भी उसके व्यवहार में इस आकस्मिक परिवर्तन का 'इदमित्थम्' कहकर कोई सटीक कारण अभी तक नहीं दिया जा सका है।

कुछ लोगों के अनुसार, कैकेयी के व्यवहार में जो अन्तर आया, उसका कारण देवताओं की यह चिन्ता थी कि राम आराम से राजमहल में रहने की अपेक्षा यदि वन में चले जाते हैं तो राक्षसों का संहार और देव-मुनियों का उद्धार सम्भव हो जायेगा । कुछ लोग कहते हैं कि कैकेयी स्वभाव से भली थी, पर वह अपने दुष्ट विचार पर अटल इसलिए रही कि उसका अपना अन्तिम उद्देश्य दानवों के विनाश द्वारा देवताओं और सन्तों की मुक्ति के लिए राम को वन में भेजना था । उनके अनुसार राम और कैकेयी दोनों यह बात जानते थे । यह एक ऐसी कल्पना है जिसे बुद्धि आसानी से ग्रहण नहीं कर पाती । ऐसी दशा में वाल्मीकि द्वारा चित्रित कैकेयी के चरित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह रहस्य प्रकट हो सकेगा ।

जब राजा दशरथ पुत्रेष्टि के बाद अपनी पत्नियों को दिव्य पायस बाँटते हैं, तब पहली बार रामायण के पाठक को कैकेयी का नाम सुनने को मिलता है ।

सन्तान की प्राप्ति के विचार से वे यज्ञ कराने की इच्छा व्यक्त करते हैं तब भी केवल एक पंक्ति में कहा जाता है—"उवाच दीक्षां विशत, यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।" इससे केवल इतना मालूम होता है कि राजा दशरथ की दो से अधिक पत्नियाँ थीं, क्योंकि इस वाक्य में क्रिया—'विशत' एक वचन या द्विवचन में न होकर, बहुवचन में है । दिव्य पायस बाँटते समय ही रानियों के नामों का उल्लेख मिलता है । पहले वे कौशल्या के पास जाते हैं और उन्हें आधा भाग देते हैं । सुमित्रा को शेष आधे का आधा भाग देते हैं । शेष का आधा भाग कैकेयी को देते हैं यानी कैकेयी केवल आठवाँ भाग पाती है । अन्त में बचा हुआ भाग भी वे कैकेयी को न देकर उसे ले जाकर सुमित्रा को दे देते हैं । कैकेयी को उचित भाग देने में दशरथ क्यों हिचकिचाते हैं--यह विचारणीय है । वरदान के रूप में देवताओं ने जो दिया, वह उसका एक-तिहाई भाग पाने की अधिकारिणी थी, किन्तु दशरथ ने सम्भवतः सोच-समझकर ही उन्हें उचित देय से तनिक वंचित कर दिया और जो दिया, वह सबसे कम था । इससे स्पष्ट होता है कि सत्य और धर्म का पालन करने वाले महान् राजा दशरथ कौशल्या के प्रति अपना विशेष कर्त्तव्य मानते थे। बड़ी रानी के पुत्र को ही उत्तराधिकार मिलना चाहिए, यह वह समझते थे और शायद यह सोचते होंगे कि अधिक गुणयुक्त होने के लिए प्रसाद का अधिक प्रमाण उपयुक्त ठहरेगा । सुमित्रा स्वभाव से सरल और विनम्र प्रकृति की थी । उत्तराधिकार के मामले में उसकी ओर से विरोध और खतरे की कोई सम्भावना न थी । लगता है, रामायण की कहानी के विकास का बीज इस पक्षपातपूर्ण और असमान बँटवारे में ही बोया गया है ।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण भगवान् विष्णु के अवतरित होने के कारण से सम्बद्ध घटना को माना जा सकता है । सृष्टिकर्ता ब्रह्मा देवताओं को लेकर विष्णु के पास जाते हैं और उनसे धरती पर जाकर पापिष्ठों को नाश करने का अनुरोध करते हैं । देवों के पक्ष को रखते हुए ब्रह्मा ने सलाह दी कि शालीनता (ह्री), सात्विकता (श्री) और प्रभविष्णुता (कीर्ति) का प्रतिनिधित्व करने वाली दशरथ की तीन रानियों के गर्भ में आप का जन्म लेना उचित होगा । यहाँ पर रानियों के नाम नहीं बताये जाते, बल्कि ह्री, श्री और कीर्ति के प्रतीक बताये जाते हैं । यह सरलता से समझा जा सकता है कि ह्री से कौशल्या, श्री से सुमित्रा तथा कीर्ति से कैकेयी की ओर संकेत है । भाग्य की विडम्बना से कैकेयी कीर्ति या यश की जगह अपकीर्ति या अपयश की ही भागिनी बनी । वह ईर्ष्या और द्वेष की पर्याय समझी जाती है। यही कारण है कि किसी कन्या का नाम कैकेयी नहीं रखा जाता जबकि कौशल्या और सुमित्रा नाम प्रायः रखे जाते हैं । अयोध्या के उस सम्मानित परिवार में सम्भवतः वह सबसे अधिक 'कु-पियारी' बन गयी । वास्तव में वह इतनी दुष्ट और विचारशून्य नहीं है जितनी समझी जाती है ।

उसके अन्तर्हृदय का अधिक स्पष्ट दर्शन करने के लिए हमें गूढ़ दृष्टि से वाल्मीकि को समझना होगा ।

दिव्य पायम के बँटवारे के बाद वाल्मीकि कैकेयी को एक लम्बे समय तक प्रस्तुत नहीं करते । राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के जन्म का वाल्मीकि सामान्यतः उल्लेख करते हैं, वह भी यह समझाने के लिए कि कौशल्या के यहाँ राम के उत्पन्न होने के बाद कैकेयी के भरत हुए जो मँझले होने के कारण राम के उत्तराधिकारी हो सकते हैं । कैकेयी के चरित्र-चित्रण के लिए यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

कैकेयी राम के प्रस्तावित राज्याभिषेक के अवसर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका लेकर पहली बार हमारे सामने आती है । राज्याभिषेक का निर्णय मन्त्रियों तथा गुरुजनों से सलाह लेकर किया गया था। कैकेयी या अन्य रानियों से कोई विचार-विमर्श नहीं किया गया था । निर्णय पल भर में ही मधुर सुगन्ध के समान सारे नगर में फैल जाता है। परन्तु दुर्भाग्य से कैकेयी के पास यह खबर उसकी दासी मन्थरा द्वारा पहुँचती है। वह कैकेयी के महल पर खड़ी होकर सभी नागरिकों की बेहद खुशी को देख चुकी है। खुशी का कारण जानते ही वह खुश होने की जगह तंगदिली अपना लेती है और अपने नाम कुब्जा को सार्थक सिद्ध करती है। अपनी स्वामिनी को पूर्ण विवरण देकर राम का अभिषेक टालने के उपाय ढूंढ़ने के लिए वह जल्दी-जल्दी नीचे उतरती है। सब प्रकार से योग्य और निष्कपट राम के प्रति उसका विचित्र भाव और अकारण घृणापूर्ण आग्रह तर्कहीन है। फिर भी वह कैकेयी को अपने विचार से प्रभावित करने में सफल हो जाती है। मन्थरा का ऊपर से नीचे आना, स्वार्थ और बुरे उद्देश्य को अपने मन के अँधेरे कोने में छिपाये हुए किसी व्यक्ति के अचानक पतन का अभिव्यंजक है। यह कहना हमेशा कठिन होता है कि ऐसा अँधेरा कब, कितना फैलकर समूची मानवता को निगल लेने की कोशिश करने लगे । अगर हम वाल्मीकि द्वारा चित्रित कैकेयी को समझने का प्रयास करें तो कैकेयी जैसी स्नेहशील और स्वच्छ हृदय की महिला में भी इस प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना देख सकते हैं।

जब मन्थरा राम के राज्याभिषेक के निर्णय की सूचना कैकेयी को देती है तो वह उसे सुनकर बहुत ही प्रसन्न होती है। वह आश्वस्तभाव से बैठकर यह मधुर संवाद सुनाने के लिए दुष्टहृदया मन्थरा की प्रशंसा करती है, बहुमूल्य आभूषण भेंट करना चाहती है और कहती है कि राज्य राम को मिले या भरत को, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। मेरे मन में दोनों के लिए एक-सा स्नेह है। मन्थरा इस प्रतिक्रिया से चकित रह जाती है । वह केवल सूचना या विवरण देने के उद्देश्य से तो आयी नहीं थी। उसने भरत के स्थान पर राम के उत्तराधिकारी

होने के परिणाम से कैकेयी को समझा-बुझाकर सावधान हो जाने के तर्क देने शुरू कर दिये। दशरथ को भला-बुरा कहने तक में उसने कोई संकोच नहीं किया। वह कहती है—दशरथ कर्तव्यपरायण और सत्यवादी भले हों, पर वह पाखण्डी और कपटी हैं। वह समझाती है कि मन में कपट होने के कारण ही उन्होंने भरत की अनुपस्थिति में चतुराई से अभिषेक की यह योजना बनायी है। वह कैकेयी को चेतावनी देती है कि यदि उसने इस प्रस्ताव को चुपचाप मान लिया तो फिर पछताना भर हाथ रह जायेगा। वह अपने और भरत के ख़याल से उसे सोचने की सलाह देती है। कैकेयी सब कुछ धैर्य से सुनती रहती है। मन्थरा के कहने का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। उसके हृदय में राम के प्रति इतना प्रेम है कि पृथ्वी की कोई शक्ति उसें विचलित नहीं कर सकती। परन्तु मन्थरा बहुत ही अधिक चतुर है। वह कैकेयी के भोले, उदार और पवित्र हृदय को जीतने में सफल हो जाती है। वह स्पष्ट कहती है कि राम के राजा बनने पर राजमाता का गौरव कौशल्या को मिलेगा, कैकेयी को नहीं। उन्हें राम और उनकी माता कौशल्या की दया पर जीवित रहना होगा। इस पर कैकेयी उत्तर देती है कि राम की स्फटिक-स्वच्छ बुद्धि, स्नेहिलता, कृतज्ञता, संयम, पवित्रता और सत्यवादिता में उन्हें सन्देह नहीं है। वह विश्वास से कहती है—

यथा वै भरतो मान्यः तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥

(मुझे जैसे राम वैसे भरत। राम तो मुझे कौशल्या से अधिक मानता है।)

मन्थरा थोड़ी निराश होकर शब्दों के चुनाव में अधिक सतर्क हो जाती है और कहती है कि कैकेयी की बलि चढ़ाकर कौशल्या महत्त्व पायेगी। वह कहती है कि सत्ता हाथ में आने पर भाईचारा क़ायम नहीं रहता। राम राजा होते ही भरत को प्रतिद्वन्द्वी मानने लगेंगे। पद के अभिमान में कैकेयी के प्रति कौशल्या का व्यवहार भी बिना बदले नहीं रहेगा। लगातार लम्बी बकवास के प्रभाव में पड़कर अमनस्क कैकेयी दूसरी तरह सोचने लगती है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस पल उसके विचार में विष बैठता है, वह राम की जगह भरत के अभिषेक की इच्छा को पूरा करने का संकल्प कर लेती है और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सबसे पक्का रास्ता खोजने लगती है।

इस मानसिक परिवर्तन के बाद कैकेयी मन्थरा से अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सलाह लेती है। मन्थरा मुस्कराती है और अतीत में हुई घटनाओं को याद करने को कहती है। जब कैकेयी को कुछ याद नहीं आता तो वह उन दो बड़े वरदानों की याद दिलाती है जो युद्ध में पति के प्राण बचाने पर राजा ने उसके प्रेम और सहिष्णुता की सराहना करते हुए दिये थे। सारी घटना कैकेयी

के मन में घूम जाती है और वह पति से अपनी मनोकामना पूरी करा पाने के प्रति विश्वस्त हो जाती है। कुटिल कुब्जा मन्थरा, अवसर का लाभ उठाकर भरत को उत्तराधिकार और राम को वनवास देने की माँग करने के लिए सलाह देती है। राम को पूरे चौदह साल का वनवास देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि लोग उन्हें पूरी तरह भूल जायें और भरत को अपने शासन-काल में किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े। कैकेयी यह सलाह सुनकर मन्थरा की बुद्धि, निपुणता और उसके शारीरिक सौन्दर्य तक की प्रशंसा करती है। मन्थरा के शारीरिक और मानसिक व्यक्तित्व के लम्बे वर्णन के महत्त्व को सही-सही समझना ज़रूरी है। वाल्मीकि कैकेयी से लगभग तीस पंक्तियों में मन्थरा का वर्णन कराते हैं। उसकी सूक्ष्म दृष्टि, कूटनीति, अपने विचार में आस्था, दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता और कुवड़े शरीर की क्रियाओं का सुन्दर और चित्त को आकर्षित करने वाली बड़ी ही चित्रात्मक शैली में वर्णन किया गया है। कैकेयी अन्ततः मन्थरा की वातों में आकर अभिषेक समारोह को रुकवाने और असफल होने पर अपना जीवन समाप्त करने का संकल्प कर लेती है। राजसी कपड़े और आभूषण एक तरफ फेंककर वह कोप-भवन में जाकर फ़र्श पर पड़ रहती है।

शायद संयोग से इधर दशरथ राम के अभिषेक का शुभ-समाचार सबसे पहले अपनी प्रियतमा, छोटी पत्नी कैकेयी को देने निकलते हैं, परन्तु कैकेयी को उसके कक्ष में न पाकर वह पल-भर के लिए निराश हो जाते हैं। पता चलता है कि रानी कोपभवन में है। यह समाचार उन्हें उदास कर देता है। वह सोचते हैं कि मैंने जो शंका की थी, वह शायद साकार हुआ चाहती है। असमंजस के भाव से स्थिति का सामना करने के लिए वह कोपभवन में जाते हैं। वहाँ कैकेयी क्रुध नागिन या पेड़ से कटी हुई लता के समान पड़ी है। संकोच और प्रेम की मिश्रित भावना के साथ वह क्रोध का कारण जानना चाहते हैं। वह कहते हैं, तुम जो कहो, मैं वही करने को तैयार हूं। पति के मुख से आश्वासन के इन शब्दों को सुनकर कैकेयी बड़ी सावधानी और चतुराई से अपनी बात रखने के पहले पक्का करवा लेती है कि वे अब अपनी बात से टलेंगे नहीं और कुछ भी क्यों न हो जाये, उसकी इच्छा पूरी की जायेगी। दशरथ श्वासोपम प्रिय राम की सौगन्ध खाकर आश्वासन देते हैं। दशरथ के ये शब्द कैकेयी को आश्वस्त और सशंक करने वाले लगे। आश्वस्त करने वाले इसलिए कि दशरथ शायद श्वास की भाँति प्रिय और आत्मीय राम को अलग करने को तैयार कैसे होंगे। फिर भी आशा तो है कि दशरथ वचन भंग नहीं करेंगे। मन की इस स्थिति में सदैव चमकने वाले सूर्य, अनन्त आकाश, दिन-रात और दशों दिशाओं सहित सभी देवी-देवताओं को साक्षी करके वह अपनी इच्छा बताकर बहुत पहले दिये गये वरदानों की याद दिलाती हैं। वह राम के स्थान पर भरत का अभिषेक और राम का वनवास—ये दो वर

माँगती है। राजा इस अप्रत्याशित कामना को सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं और उन्हें मूर्च्छा आ जाती है। होश में आने पर वह कैकेयी को हृदयहीन आदि कहते हुए असहाय होकर रो पड़ते हैं। कहते हैं, 'संसार सूर्य के बिना जीवित रह सकता है, लताएँ पानी के बिना हरी रह सकती हैं, परन्तु मैं राम के बिना जीवित नहीं रह सकता।' स्वभाव से सत्य और धर्म के लिए समर्पित राजा दशरथ फिर कैकेयी को दिये वचनों को याद करते हैं। वह उन्हें भंग नहीं कर सकते। एक ओर सत्य और धर्म तथा दूसरी ओर पुत्र-प्रेम—दोनों के बीच संघर्ष उपस्थित है। अपने वचनों को निभाने के लिए भरत के राजतिलक से सम्बन्धित कैकेयी की इच्छा को मानने तक की बात उन्हें ठीक लगती है। परन्तु राम को वनवास देना धर्मसम्मत कैसे हो सकता है? वह सोचते हैं कि कैकेयी को इस पर राजी किये बिना वह सत्य और धर्म की रक्षा नहीं कर सकते। वह कैकेयी के पैरों में गिरकर धर्म और न्याय की भिक्षा माँगते हैं। साधु-स्वभाव राम, जिसने कैकेयी या किसी अन्य का कोई बुरा नहीं किया, इस दुष्ट व्यवहार के योग्य नहीं है। वह कैकेयी से कोई दूसरा वर माँगने को कहते हैं। सत्य, गुण, त्याग, तपस्या, कृतज्ञता और शुद्धता की मूर्ति राम को राज्य देने का वचन देकर उन्हें वन में भेजने की हिम्मत उनमें नहीं है।

कैकेयी के सामने वास्तविक संघर्ष है। वह भी माँगे हुए वर वापस नहीं लेना चाहती। वह भी सत्य और धर्म के नाम पर दशरथ से कहती है कि वचन देकर उसे पूरा न करना सत्य और धर्म से हटना कहलायेगा। अन्त में वह कहती है, 'अगर राम का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपना जीवन समाप्त कर डालूंगी। मैं कौशल्या की प्रभुता एक दिन के लिए भी स्वीकार नहीं कर सकती, मैं इसे मृत्यु से भी अधिक बुरा मानती हूँ।'

दशरथ कठिनाई में पड़ जाते हैं। असहाय होकर कैकेयी के कन्धों पर सिर रख कर रोते हैं। पर वह तो अविचलित रहना तय कर चुकी है। वह दशरथ से स्नेह या उनकी प्रतिष्ठा के बारे में तनिक भी विचार करना नहीं चाहती। दशरथ उससे अपने निर्णय पर दुबारा सोचने के लिए कहते हैं, क्योंकि प्रश्न सारे राज्य की प्रतिष्ठा का था। जब सारा राज्य एक ऐसे शुभ सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रहा था जो आशा की नयी किरणों के साथ आने वाला था, उस समय यह समाचार पाकर हम सबके बारे में प्रजा क्या सोचेगी? किन्तु कैकेयी अपने निर्णय पर अटल है। उससे हटना धर्म और सत्य से हटना है, इसलिए दशरथ उसकी इच्छा के बिना कुछ और कर भी तो नहीं सकते। कैकेयी सत्य की दुहाई देती है और दशरथ दया और धर्म की भिक्षा माँगते हैं। वह कैकेयी के पैरों में गिरकर कहते हैं, 'मेरे बुढ़ापे और राज्य की प्रतिष्ठा को न सही; तरुण, निश्छल, सौजन्य की मूर्ति राम का तो कुछ ध्यान करो।' दशरथ कौशल्या की बात भी कहते हैं कि सबसे अधिक नम्र और आज्ञाकारी होने के कारण वह प्रेम और

आदर की अधिकारिणी थी, किन्तु मैंने तुम्हारे प्रेम के कारण उसकी उपेक्षा की। उनका यह कहना उलटा पड़ता है। कैकेयी अपने प्राप्य पर और भी आग्रह के साथ अड़ जाती है। वह कहती है—

"सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥"

जिस सत्य में न्याय या धर्म प्रतिष्ठित है, उसी से ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। इसी सत्य के बारे में सभी वेदों में कहा गया है। यही सत्य दुनिया की सबसे बड़ी उपलब्धि है। वह कहती है, धर्म स्थापित करने के लिए सत्य का पालन आवश्यक है। वह अपने प्रिय पति को ऐसे कड़े शब्दों में आदेश देती है जिनका उपयोग कठोर से कठोर हृदयवाली पत्नी ही कर सकती है।

"धर्मस्येवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात्।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्॥"

यदि आप सचमुच धर्म के पथ को नहीं छोड़ना चाहते हैं तो मेरी बात सुनें और उसे मानकर राम को वनवास दें। मैं तीन बार इसे आपके सामने दुहराती हूँ कि राम को वनवास दें, वनवास दें, वनवास दें।

कैकेयी दशरथ को फिर चेतावनी देती है कि यदि उसकी इच्छा पूरी न की गयी तो वह अपने जीवन का अन्त कर लेगी। दशरथ इसे सुनकर कहते हैं कि यदि वे ये दोनों वचन पूरे करते हैं तो राम जैसे पुत्र से विलग होकर उनके प्राण भी छूट जायेंगे।

रात लगभग खत्म हो चुकी है। दिन निकलने वाला है। कैकेयी बेचैन हो जाती है। दशरथ से कहती है कि राम को बुलाकर उन्हें अपने नये निर्णय से अवगत करायें। लगभग उसी समय राजा के मन्त्री सुमन्त्र वहाँ जा पहुँचते हैं। दशरथ उन्हें अपनी मनःस्थिति बताने में असमर्थ हैं। कैकेयी स्वयं आदेश देते हुए राम को वहाँ बुला लाने के लिए कहती है। बुद्धिमान् सेवक सुमन्त्र दशरथ से सीधा आदेश चाहते हैं। असहाय अवस्था में दशरथ कहते हैं—

"सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।"

(हे सुमन्त्र! मैं अपने योग्य पुत्र राम को देखना चाहता हूँ। उन्हें जल्दी बुलाकर लाओ।)

अन्ततोगत्वा राम कैकेयी के सामने उपस्थित होते हैं। माता कैकेयी का मुंह फीका पड़ गया है (मुखेन परिशुष्यता)। वह अशान्त है और पिता दशरथ असामान्य रूप से दुखी और उदास। उस अप्रत्याशित वातावरण को देखकर राम

भी उद्विग्न हो जाते हैं और चिन्तित होकर पूछते हैं, "क्या हुआ?" उन्हें शंका होती है कि किसी ने राजा के विषय में कुछ ऊँच-नीच तो नहीं कह दिया है, या अनजाने ही कहे गये कैकेयी के किन्हीं शब्दों से उन्हें चोट तो नहीं पहुँची है? वह कैकेयी के कड़वेपन से थोड़े-बहुत परिचित तो थे ही। राजा चुप हैं। उस चुप्पी का लाभ उठाकर कैकेयी कहती है, 'राजा कुछ कहना चाहते हैं, किन्तु उसे बताते हुए डरते हैं। यदि तुम अपने पिता की इच्छा पूरी करने को तैयार हो तो मैं वह सत्य प्रकट करूँ?' माँ के ऐसे संकेत से राम के मन को चोट पहुँचती है, किन्तु जब वह परिस्थिति जान लेते हैं तो उनका मन शान्त हो जाता है। वह कहते हैं, 'राजा औपचारिक आदेश दें या न दें, आपके कहने पर ही मैं वन जाने को तैयार हूँ। पर जानना चाहता हूँ कि पिता मुझसे बोलना क्यों नहीं चाहते?' वह कहते हैं कि भरत को भी बुलवा लेना चाहिए। परन्तु कैकेयी को इतना धीरज नहीं है। वह भरत की प्रतीक्षा किये बिना ही, भरत के अयोध्या वापस आने के पहले ही राम का वनगमन चाहती है। उसे डर है कि भरत यहाँ पहुँचने पर राम को वन नहीं जाने देगा। तब राम कैकेयी की बात को पूरा करने का वचन देकर माता-पिता के पैर छूकर उनसे विदा लेते हैं। इससे कैकेयी को एक सीमा तक शान्ति मिल जाती है।

परन्तु जब तक राम नगर छोड़ नहीं देते तब तक कैकेयी के मन में शंका बनी रहती है। वह सोचती है, राम के समर्थक निश्चय ही भयंकर उत्पात मचायेंगे। कौशल्या और सुमित्रा भी विरोध करेंगी। उस विरोध पर विजय पानी होगी। दशरथ के धैर्य की भी जाँच करनी होगी। वह किसी भी समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपना निर्णय बदलने की कोशिश कर सकते हैं। अन्तिम विघ्न भरत की तरफ़ से आ सकता है, जबकि सारी योजना उसी के लिए की गयी है। दुष्ट-हृदया मन्थरा ने कैकेयी को इतनी हिम्मत बँधा दी है कि वह इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने को तैयार है।

पहली बाधा महल के अन्दर से और बाहर से जनता के विरोध के रूप में आती है। कैकेयी की दुष्ट इच्छा की निन्दा करते हुए महल के सभी लोग रो उठते हैं। राम के वनगमन को रोकने का अनुरोध होता है। सभी रानियाँ, लगभग 350, अपने-अपने भवनों से निकल आती हैं। दशरथ भी राम को सलाह देते हैं कि वह कैकेयी के आगे विवश हैं और एक विवश व्यक्ति के आदेशों का पालन न करने में सबकी भलाई ही है। अन्तिम उपाय के रूप में वह अपनी सभी रानियों को बाहर आने और अपनी बात का समर्थन करने के लिए कहते हैं। वे राम को कम-से-कम एक दिन के लिए अपनी यात्रा स्थगित करने को भी कहते हैं, किन्तु यह सब कुछ न तो राम के मन को जीत सका और न कैकेयी के पत्थर जैसे कठोर हृदय को ही पिघला सका। किसी भी निर्णय पर अटल रहने के लिए साहस

और दृढ़ विश्वास की आवश्यकता होती है। कैकेयी अद्भुत स्थिरता का परिचय देकर इस परीक्षा में सफल हो जाती है।

जब सीता वन के योग्य वस्त्रों को ठीक से पहन नहीं पायीं तो राम ने उनकी सहायता की। वसिष्ठ मुनि यह देखकर धैर्य खो बैठे और उन्होंने अत्यन्त कटु-भाषा में कैकेयी को भला-बुरा कहा। सुमन्त्र भी कैकेयी के कार्यों को क्रूर, पशु-वत् और विश्वासघाती कहने में उनके साथ हो गये। लगभग सभी नागरिकों के पास कैकेयी के लिए दुर्वचन ही हैं। सारी अयोध्या कैकेयी और उसके राज्य को छोड़कर राम के चरण-चिह्नों पर चल पड़ने के लिए तत्पर हो गयी। राजा दशरथ आगे से कैकेयी का मुँह नहीं देखना चाहते। वे अपना शेष जीवन दुखी कौशल्या के साथ बिताना चाहते हैं। अन्त में उनका जीवन राम के प्रेम की वेदी पर चढ़ जाता है। उनके शरीर छूट जाने का भी कैकेयी पर कोई असर नहीं पड़ता। वह अपने पुत्र भरत को राजगद्दी पर आसीन देखने के शुभ क्षण की प्रतीक्षा कर रही है। अब भरत से सान्त्वना और बधाई पाना ही उसके मन के किसी कोने में पड़ी हुई आशा की एकमात्र किरण है।

परन्तु आशा की यह किरण छिन्न-भिन्न हो जाती है। भरत को अपनी माँ के दुष्ट व्यवहार, पिता की मृत्यु और निर्दोष भाई के वनवास की खबर से बड़ा धक्का लगता है। वे अपनी माँ से क्रोध में भरकर बोलते हैं। शत्रुघ्न इन सारी घटनाओं का विष-बीज बोने वाली मन्थरा को पीट तक देते हैं।

अब कैकेयी के लिए कुछ नहीं बचा। वह सत्ता की प्यास के दुष्ट चक्र की शिकार बन गयी। परन्तु उसने एक उदाहरण रखा है कि व्यक्ति की शक्ति किस ऊँचाई तक उठने और कितने नीचे स्तर तक पहुँच सकने में समर्थ है।

इसी पृष्ठभूमि में वाल्मीकि ने कैकेयी को 'कीर्ति' की संज्ञा दी—दूसरे शब्दों में महत्त्वाकांक्षी की। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी विभूति का विस्तार बताते हुए उसे स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाक् कहा है। ये तीनों विशेषताएँ दशरथ की तीन रानियों के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। यों प्रत्येक आदमी दशरथ कहा जा सकता है। वह दस इन्द्रियों सहित अपनी जीवन-यात्रा करता है। अतः हर आदमी को ह्री, श्री और कीर्ति का सही अनुपात रखना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से, किसी के भी जीवन में सामाजिक दायित्व, पारि-वारिक भावना और मानवीय व्यवहार की दृष्टि से कीर्ति का असन्तुलन अवांछित फल देने वाला बन सकता है। वाल्मीकि द्वारा चित्रित कैकेयी के चरित्र का अध्ययन भी इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए।

□

कौशल्या

कैकेयी को वाल्मीकि ने सामाजिक न्याय और राज्य-प्रतिष्ठा दोनों के विरोध में अधिकार पर अडिग रहने वाले चरित्र के रूप में अंकित किया है। इसके विपरीत कौशल्या का चरित्र ईश्वर के न्याय के सामने अपने को शान्त भाव से समर्पित कर देने वाली मूक कष्ट-सहन की प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। होने को वे राजा दशरथ की पटरानी हैं, किन्तु वे अपनी इस प्रतिष्ठा पर ध्यान दिये जाने की कहीं भी माँग नहीं करतीं और न अपने पति की ओर से ही विशेष प्रेम का अधिकार चाहती हैं। अन्य राजरानियों की भाँति वाल्मीकि ने उन्हें भी तब तक पृष्ठभूमि में रखा है जब तक पुत्रेष्टि यज्ञ के बाद दिव्य पायस नहीं बाँटा जाता। यों उनका पहले-पहल उस समय नाम लिया गया है जब देवतागण विष्णु के पास पृथ्वी पर अवतार लेने की प्रार्थना लेकर पहुँचते हैं और कहते हैं कि वे अयोध्या में राजा दशरथ के यहाँ जन्म लें जिनकी ह्री, श्री और कीर्ति—रूपा तीन रानियाँ हैं। इन गुणों से विभूषित रानियों के यहाँ नाम नहीं लिये गये हैं, किन्तु स्पष्ट ही संकेत क्रमशः कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी की ओर है। इस प्रकार कौशल्या को ह्री स्वरूपा कहा गया है। ह्री केवल विनय-सूचक लौकिक शब्द नहीं है, इसमें वे आध्यात्मिक इंगित भी हैं जो शब्दों में समाविष्ट नहीं होते।

स्वभाव की यह आध्यात्मिकता कौशल्या के नित्य व्यवहार में परिलक्षित होती है। समस्त लौकिकता के साथ कौशल्या अलौकिक हैं। वह मृदुभाषिणी हैं और दुःख या संकट के समय भी वह किसी प्रकार की तीव्र भावना का प्रदर्शन नहीं करतीं। कहा जा सकता है कि वह राम के समान ही सुख-दुःख में समान रह पाती हैं। राजा दशरथ जब पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं तब, दिव्य पायस भेंट करते हैं तब, और राम को विश्वामित्र के साथ भेजते हैं तब भी वह किसी प्रकार के हर्ष-शोक भावों का प्रदर्शन नहीं करतीं। जो कुछ आस-पास घट रहा है, उसे वह मन में बिना किसी विक्षेप के केवल देखती-सुनती रहती हैं। अवश्य ही

दूसरों के सुख में सुखी होती दिखाई देती हैं।

पहली बार हम उन्हें अपने-आपको व्यक्त करते हुए पाते हैं राम के अभिषेक का समाचार सुनकर। निर्णय की सूचना कौशल्या के पास राम के प्रियजनों द्वारा पहुँचती है और वह प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्णाभूषण आदि भेंट में देती हैं। यहाँ भी वह शब्दों में कुछ व्यक्त नहीं करतीं। अवश्य ही जब राम उनके पास यह समाचार लेकर जाते हैं तब उनकी आँखों में आनन्द के आँसू झलक पड़ते हैं और वह कहती हैं—"वत्स राम, चिरंजीव"। यहाँ भी वह राम के राज्यारोहण के विषय में कुछ नहीं कहतीं। वह सरलता और पवित्रता की मूर्ति हैं। स्वल्प में सन्तोष मानती हैं और उनके हृदय में आनन्द का सागर उमड़ता रहता है। पुत्र उनके साथ है, यह उनके लिए बहुत है। वह राजा होता है या नहीं, यह उनके लिए सर्वथा अवान्तर है। इसके बाद वह राजा के इस निर्णय पर अपनी प्रसन्नता भी प्रकट करती हैं और यह कहती हैं कि यह सभी को अच्छा लगा है, यह और भी प्रसन्नता की बात है। निर्णय का विरोध कहीं से नहीं हुआ, उनके इस कथन में यह कहीं सूचित नहीं किया गया कि निर्णय का विरोध कहाँ से हो सकता था। राम ने माँ के वचन को एक मुस्कराहट के साथ ग्रहण किया और साथ खड़े लक्ष्मण से कहा कि 'मैंने राज्याभिषेक की बात अपने विचार से नहीं, प्रजा के विचार से स्वीकार की है।'

राम जब कौशल्या को राज्याभिषेक का समाचार देने पहुँचते हैं तो देखते हैं कि वहाँ सीता, सुमित्रा और लक्ष्मण पहले ही उपस्थित हैं, अर्थात् माता को समाचार मिल चुका है। ऊपर से वह संयोग स्वाभाविक दिखाई देता है, किन्तु वाल्मीकि द्रष्टा थे और उन्होंने जानबूझकर वहाँ यह दृश्य उपस्थित किया है। एक ओर जानकी, कौशल्या और सुमित्रा तथा दूसरी ओर राम और लक्ष्मण। दिव्य दृश्य है, और जो इस दिव्यता को देख सकते हैं वे उसके महत्त्व को भी समझ सकते हैं। एक आध्यात्मिक स्पन्दन चारों ओर आभा का मण्डल खींचता हुआ देखा जा सकता है। ओम्, ह्री और श्री—तीन उदात्त शब्द हैं। ओम् आदि नाद है। इन तीनों का एक जगह होना व्यक्ति को अव्यक्त आलोक से जोड़ देता है और यह आलोक त्रैलोक में व्याप्त हो जाता है। इस दिव्य दृश्य को उपस्थित करने के बाद ही वाल्मीकि ने पाठकों के सामने कौशल्या का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

"तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥"

यहाँ कौशल्या को एकाग्रचित्त से पुनीत पूजावस्त्रों में, पूजाभाव से आवेष्टित अंकित किया गया है और वह भगवती श्री से अनन्त शब्दों में आशीर्वाद की याचना

कर रही है। अर्धोन्मीलित नयनों से वह सीता और सुमित्रा की ओर देखती हैं और इसी क्षण राम का प्रवेश होता है। लोक में प्रचलित कोई भी शब्द इस अद्भुत क्षण के वास्तविक महत्त्व को प्रकट करने में असमर्थ है।

इसके बाद राम राज्याभिषेक के लिए आवश्यक साधनों को सम्पन्न करने के विचार से अपने कक्ष में चले जाते हैं। इसी बीच दशरथ कैकेयी के पास पहुँचते हैं। कदाचित् विचार यह है कि कौशल्या से पहले कैकेयी को संवाद देना। यदि मन में छोटी-बड़ी कोई आशंका होगी तो उसे दूर कर देना। साधारणत: उन्हें पहले कौशल्या के पास जाना था, किन्तु वे वहाँ न जाकर कैकेयी के पास जाते हैं और देखते हैं कि सारा खेल उलट-पुलट हो गया है। रात्रि असमंजस, कष्ट और कलह में बीतती है, किन्तु दिन निकलते-निकलते तक कैकेयी स्वयं निर्णय लेकर राम को बुलवाती हैं और कहती हैं—तुम्हें तत्काल वन-गमन करना है। पिता की ओर से बिना किसी प्रकार का संकेत पाये भी राम इसके लिए तैयार हो जाते हैं। उदात्त माता का उदात्त पुत्र शान्त स्वरों में माता कैकेयी को आश्वस्त करता है कि वन-गमन के लिए पिता की औपचारिक आज्ञा आवश्यक नहीं है। मेरे लिए तो आप की इच्छा ही पर्याप्त है और पूरी तरह पालनीय है। वे पिता के चरण छूते हैं। पिता लगभग मूर्च्छित अवस्था में हैं, उन्हें इसका भान भी नहीं होता। उसके बाद वे अन्य व्यक्तियों की तरह यह सोचे बिना कि माता कैकेयी ने सारे सिद्धान्तों और स्नेह को ताक पर रखते हुए यह काम किया है, उनको प्रणाम करके इस परिवर्तन का समाचार देने के लिए अपनी माँ के पास चले जाते हैं। माता कौशल्या, जो किसी प्रकार के छल को सोच भी नहीं सकतीं, रात-भर देवतागार में पूजा करते हुए जागती रही हैं और सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हैं जो राम के भाग्य के उदय का क्षण होगा। तब राम को आते हुए देखती हैं तो कहती हैं कि महाराज ने तुम्हारा राज्याभिषेक करने का निर्णय लेकर प्रजा के प्रति अपनी उदार भावना का परिचय दिया है और इस प्रकार तुम्हारा आदर किया है। वे तुम्हें गुणनिधान और प्रजा के कल्याणकर्ता के रूप में देखते हैं। राम इसे सुनकर असमंजस में पड़ जाते हैं। किन्तु मृदु और मधुर वचनों में दूसरा समाचार देने का प्रयत्न करते हैं। माता उन्हें एक आसन पर बैठने के लिए कहती हैं, किन्तु वे कहते हैं, "माता ! राज्यभवन में अवकाशपूर्वक बैठने का समय नहीं है, मुझे दण्डकवन जाना है और चौदह वर्षों तक वन में ही रहना है।" राम के इन कोमल शब्दों में व्यक्त कठोर आशय का प्रभाव कौशल्या पर वैसा ही होता है जैसा किसी तीक्ष्ण कुठार का फूलों से लदे हुए किसी कोमल वृक्ष पर हो सकता है। राम माता को धैर्य बंधाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु प्रत्येक माँ जैसी होती है, वैसी ही होती है। फिर कौशल्या जैसी सबके प्रति वत्सल-हृदय माँ के बारे में क्या कहा जाये। वह अपने भाग्य को दोष देती

हैं और कहती हैं कि यदि यह कष्ट देना था तो भगवान् ने मुझे पुत्रवती ही क्यों बनाया। प्राण-प्रिय पुत्र के चले जाने के बाद वे अपने अन्धकारमय भविष्य की कल्पना करके व्याकुल हो जाती हैं। वे कैकेयी के स्वभाव को समझती हैं। वे जानती हैं कि नगण्य कारण पर भी कैकेयी उबल पड़ती है। उनकी समझ में नहीं आता कि ऐसी अवस्था में चौदह वर्ष कैसे बीतेंगे। वह सोचती हैं, "मेरा हृदय इस समाचार को सुनकर विदीर्ण क्यों नहीं हो गया। मैंने जो भी जप-तप किया था, वह सब उसी तरह निरर्थक गया जैसे बंजर भूमि में पड़ा हुआ बीज।" अन्त में वह राम से आग्रह करती हैं, "तुम और चाहे जो कुछ करो, वन-गमन मत करो।" वहाँ कौशल्या को वाल्मीकि ने मातृभावना की मधुरतम मूर्ति के रूप में उभारा है। माँ के दुख को देखकर राम सचमुच असमंजस में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं कि उन्होंने स्वार्थ की दिशा में जाग्रत कैकेयी और दुख से अर्ध-मूर्च्छित दशरथ को अपने वन-गमन के विषय में आश्वस्त कर दिया है। माँ से विदा लेकर और जानकी को सूचित करके तत्काल वन-गमन करने का विचार प्रकट किया जा चुका है। उन्होंने इन्हीं दो कामों के लिए समय माँगा था और इतना ही समय उन्हें मिला भी। किन्तु अब माता कौशल्या कह रही हैं कि तुम वन-गमन मत करो, राम को लगता है कि दोनों माताओं का कहना ठीक है। अब इन दो ठीक बातों में से कौन-सी बात चुनी जाये?

माता कौशल्या राम के भीतर चल रहे संघर्ष को भाँप जाती हैं। सत्य और धर्म के प्रति निष्ठा उनके स्वभाव का अभिन्न अंग है। उनका व्यक्तित्व इन गुणों के ताने-बाने से बुना है। वे तत्काल निर्णय लेती हैं कि वह अपने पुण्यशील पुत्र के कर्तव्य में बाधा नहीं बनेंगी। पुत्र पिता की आज्ञा से वन ही जाये। मन में इस निश्चय के आ जाने के बाद भी मातृप्रेम उन्हें अस्थिर बनाये रखता है। सोचती हैं कि उनसे ऐसे निष्पाप पुत्र का वियोग क्षण-भर के लिए किस प्रकार सहा जायेगा। अपने मन की बात वह किस तरह कहें, यह उन्हें समझ में नहीं आ रहा है। उसी समय अचानक लक्ष्मण प्रवेश करते हैं। वे क्रोध में भरे हुए हैं और क्रोध से काँपते हुए स्वरों में कहते हैं कि कैकेयी ने जो कुछ किया है, उसे एकदम अमान्य कर दिया जाना चाहिए और यदि कैकेयी की बात का कोई समर्थन करता है तो उसे उचित उत्तर दिया जाना चाहिए। उनके स्वर विद्रोह के स्वर हो उठते हैं और वे कहते हैं कि यदि रामाज्ञा हो जाये तो वे सारे दुष्प्रवृत्तिपूर्ण तत्त्वों को समाप्त कर देंगे। कौशल्या लक्ष्मण के क्रोध-भरे शब्दों का सहारा लेकर राम से कहती हैं कि तुम ऐसी अवस्था में जैसा उचित हो, वैसा आचरण करो। वह स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहतीं। सांकेतिक रूप से कहती हैं कि धर्म और न्याय के पक्ष पर चलना ही श्रेयस्कर है—

"धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थत्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥"

—धर्म को जाननेवाले हे पुत्र ! मैं जानती हूँ कि तुम महाधर्म के पथ पर स्थिर रह कर धर्म का आचरण करना चाहते हो। जब एक जैसे अनेक कर्तव्य सामने खड़े हों और उनमें से सर्वाधिक उपयुक्त का चयन करना हो तब तुम उनमें से जो उत्तम है, उसी को ग्रहण करते हो। इसलिए मेरी इच्छा है कि तुम मेरे पास रहते हुए ही अपने सर्वोत्तम धर्म का पालन करो। वह यह भी कहती हैं कि तुम मुझे अपने पिता के समान ही मान और सम्मान देते हो, इसीलिए मैं तुम्हें वन-गमन की आज्ञा नहीं दे सकती। वह इस बात को भी स्पष्ट कर देती हैं कि राम के बिना जीना सम्भव नहीं जान पड़ता और इसलिए वन-गमन के बाद घटने वाली अशुभ घटनाओं का उत्तरदायित्व एक तरह से राम का हो जायेगा।

प्रसंग है राम के वन-गमन का। कौशल्या राम से कहती हैं कि उनके वन-गमन से अयोध्या में जो कुछ भी होगा, वह उनके चले जाने का फल ही होगा। तब राम अपने को परिस्थिति के अनुसार सत्य और धर्म के शाश्वत समीकरण के अनुसार चलना निश्चित करते हैं—

"धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ।।"

वे यह माता कौशल्या से न कहकर अपने भाई से कहते हैं। वे जानते हैं कि भाई की भावना को संयत करते ही माता भी अपनी भावना और अपने मोह को संयत करने का प्रयत्न करेंगी। इसलिए वे लक्ष्मण से कहते हैं कि इसमें सन्देह नहीं कि संसार में धर्म ही सबसे बड़ा मूल्य है, धर्म में सदा सत्य समाविष्ट रहता ही है। इसलिए धर्म के पथ पर चलकर पिता के वचनों का पालन करने में ही श्रेय है। इसके बाद वे माता से कहते हैं कि वह पिता की आज्ञा की अवहेलना करने में अपने को असमर्थ पाते हैं और इसलिए वे करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि उन्हें वन-गमन की आज्ञा माता से भी मिले। उनकी आज्ञा और उनका आशीर्वाद सब जगह राम के शीर्ष पर छायादायी सिद्ध होंगे।

माता को पुत्र से विलग होते हुए जो कष्ट होता है, वह शब्दातीत है। किन्तु साथ ही उसे ऐसे पुत्र की माता होने के गौरव का जो अनुभव होता है, वह भी अपार है। पुत्र से ऐसा दृढ़ और उदात्त निर्णय सुनकर वह बार-बार उसके मुँह की ओर देखती हैं और इस परिस्थिति के योग्य धैर्य धारण करना चाहती हैं। वह कहती हैं, "मैं अपनी वाणी को ऐसा आदेश नहीं दे पाती कि वह तुमको विदा

कर सके और न मैं ऐसा ही अनुभव कर पाती हूँ कि मैं तुम्हारे बिना जीवित रह सकूँगी।" राम माता की इस मनोदशा को देखकर, फिर आश्वस्त वचन कहते हुए नम्रतापूर्वक उन्हें अपने कर्तव्य की याद दिलाते हैं और कहते हैं कि यह पिता के दिये हुए वरदानों के अनुसार है। आपका कर्तव्य है कि पिता के वचनों की रक्षा करने में उनकी सहायता करें। वे बारी-बारी लक्ष्मण और माता को सम्बोधित करते हुए तर्क और आश्वासन-भरे वचनों का सहारा लेते हैं।

जब कौशल्या यह समझ लेती हैं कि राम तनिक भी विचलित होने वाले नहीं हैं, तब वह कहती हैं, "यदि ऐसा है तो मुझे भी अपने साथ लेते चलो।" राम असमंजस में पड़ जाते हैं, क्योंकि उन्होंने कभी माता-पिता के वचनों का उल्लंघन नहीं किया है। वे यह भी सोचते हैं कि माँ की इच्छा को पूरा न करना उनकी आज्ञा न मानने जैसा ही है, किन्तु इस आदेश का पालन करना वास्तव में एक मोहग्रस्त भावना का समर्थन करना कहलायेगा। ऐसा सोचकर राम फूट-फूटकर रोने लगते हैं और माँ से कहते हैं कि वह ऐसा आग्रह न करें और पिता के वचनों का पालन करने में सहायक बनें। कौशल्या विवश हो जाती हैं और यह मान लेती हैं कि समय की लीला विचित्र है, वही सर्वाधिक शक्तिशाली तत्त्व है और इस असह्य दुख को सहने की शक्ति भी वही देगा।

वह अपनी मनोदशा को वश में कर लेती हैं, स्थिर होती हैं और शान्त-मन से आशीर्वाद देती हैं, "मैं तुम्हें रोककर रखने में असमर्थ हो गयी हूँ। तुम्हें वन-गमन की आज्ञा देने के सिवा और कोई चारा नहीं है। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ और भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि तुम वनवास की अवधि बिताकर अयोध्या वापस लौटो और बुढ़ापे में मुझ दुखिया को सुखी बनाओ। तुम्हारी यात्रा में धर्म सहित तुम्हारी सभी उदार प्रवृत्तियाँ, जिनका तुमने आचरण और विकास किया है, तुम्हारी रक्षा करें। ऋषि विश्वामित्र ने तुम्हें जिन दिव्य शक्तियों से सम्पन्न किया है, वे सब कवच बनकर तुम्हारी रक्षा करें। दिन और रात, मास और मौसम सायं-प्रातः, नदी-पर्वत, पृथ्वी और स्वर्ग, सर्वकाल और सर्व दिशाएँ तुम्हें सत्य के पथ पर आरूढ़ रखें और उन्हीं के आशीर्वाद-स्वरूप तुम शीघ्रातिशीघ्र अयोध्या आ सको। मैं उन क्षणों और मुहूर्तों से प्रार्थना करती हूं जिन्होंने इन्द्र को अजेय वृत्रासुर को जीतने में सहायता की थी और जिन्होंने आज्ञाकारी पुत्र वैनतेय को माता के लिए अमृत लाना सुलभ कर दिया था और जिनके आशीर्वाद स्वरूप लघु-शरीरधारी वामन ने समस्त त्रैलोक्य को तीन डगों में अतिक्रमित कर लिया था, वे तुम्हारी रक्षा करें, सदा यात्रा में तुम्हारे साथ रहें और उसे सरल बनायें।" इन वचनों के साथ कौशल्या राम को विदा कर देती हैं। माता से इन वचनों को सुनकर राम पहले से भी अधिक दीप्त, आनन्दित हो उठते हैं, क्योंकि ये वचन केवल राम के लिए ही नहीं, बल्कि उन

सब व्यक्तियों के मार्गदर्शक हैं जो धर्म और सत्य के पथ पर आरूढ़ रहकर किसी भी देश या काल में आचरण के लिए तत्पर रहते हैं।

कौशल्या के स्वभाव का यह पहलू कि वह अपने मन का दुख सिवा पुत्र के और किसी पर प्रकट नहीं करतीं, उनके हृदय की गहराई को व्यक्त करता है। उन्हें ऐसा पुत्र प्राप्त करने का गौरव है जो बड़े से बड़े कष्ट को सहजभाव से ग्रहण करता है। इसलिए वे स्वयं भी अपने दुख को किसी और पर प्रकट करना दुर्बलता का चिह्न मानती हैं। जब सब रानियाँ राम को विदा देने के लिए अपने-अपने कक्षों से निकलती हैं तो कौशल्या भी चुपचाप उनके साथ शामिल हो जाती हैं और उस महान् क्षण के कष्ट को बिना व्यक्त किये सह लेती हैं। तभी दशरथ शोकाभिभूत होकर राम के साथ वनगमन का आग्रह करते हैं। राम उनसे माता के प्रति कर्तव्य की याद दिलाते हुए अपना विचार छोड़ने की प्रार्थना करते हैं। यही राम के अन्तिम शब्द हैं जो उन्होंने पिता से कहे। इसके बाद वे माता कौशल्या से पिता को सान्त्वना देने की प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं कि चौदह वर्ष की अवधि बहुत जल्दी समाप्त हो जायेगी। ऐसा लगेगा कि जैसे हम शाम को सोये थे और सुबह उठ गये हैं। राम के इन वचनों से कौशल्या का दुख फिर जाग जाता है और वह बार-बार राम-राम कहते हुए रोने लगती हैं। वह कभी राम की ओर, कभी लक्ष्मण की ओर तो कभी सीता की ओर देखती हैं। उनका धीरज समाप्त हो जाता है, वह कभी इसकी ओर जाती हैं तो कभी उसकी ओर। वाल्मीकि ने इस दृश्य का वर्णन बड़ी मार्मिक शैली में किया है।

दशरथ कैकेयी का मुख न देखने की बात कहते हुए कौशल्या के साथ उनके कक्ष में प्रवेश करते हैं। कौशल्या पति के सामने फूट-फूटकर रोने लगती हैं और कहती हैं कि जरा सोचिए तो सही कि हमारे जिन कोमल बालकों को राजमहल में सुख और सुविधा से रहने की ज़रूरत थी, वे वनवास के कठिन दुख को कैसे सहन करेंगे। उनके मुख से कैकेयी के प्रति भी कठोर वचन निकलते हैं। वह पति से यह भी कहती हैं कि आपने सदा मेरी अवज्ञा की, फलस्वरूप हमने अपने पुत्र और बहू को इस तरह खो दिया और अब समझ में नहीं आता कि हमारे बचे हुए दिन कैसे कटेंगे। दशरथ स्वयं शोक में निमग्न हैं, वे इन सब का क्या उत्तर देते। इस कठिन क्षण में सुमित्रा कौशल्या को अपने अंक में ले लेती हैं। उनके मीठे वचनों से कौशल्या को क्षणिक आश्वासन मिलता है।

किन्तु जब सुमन्त्र लौटकर ख़बर देते हैं कि राम को दण्डकारण्य में छोड़ आये हैं तो उनका दुख फिर नये सिरे से फूट उठता है। दशरथ शोक से आहत, स्तब्ध और मूक होकर रह जाते हैं और यह भी नहीं पूछ पाते कि इस समय राम-लक्ष्मण और सीता वन में कहाँ और कैसे हैं। दशरथ को इस प्रकार चुप देखकर किंचित् क्रोध-मिश्रित स्वर में कौशल्या कहती हैं, "अब तो कैकेयी का कोई डर

नहीं है, कुछ तो कहिए !"

कौशल्या के इन वचनों से दशरथ के हृदय को बड़ा आघात पहुँचता है। वे सोचने लगते हैं कि नम्रता की मूर्ति कौशल्या इतनी कठोर कैसे हो गयी। यहाँ वाल्मीकि यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि कौशल्या का हृदय उनके दिव्य व्यक्तित्व के बावजूद एक माँ का हृदय है। उनके व्यक्तित्व की दिव्यता सतही नहीं है, फिर भी वह इस प्रकार क्रोध से भर उठती हैं। इसका यही तात्पर्य समझना चाहिए कि वह पुत्र के प्रति माता होने के नाते कितनी संवेदनशील थीं। दशरथ चुप रहकर सुमन्त्र से समाचार सुनना चाहते हैं क्योंकि सारी स्थिति सुमन्त्र को ही मालूम है। कौशल्या के वचनों से उनके मन को जो अतिरिक्त व्यथा हुई है उसे शान्त करने की दृष्टि से वह कुछ देर चुप रहते हैं और फिर शक्ति समेटकर सुमन्त्र से पूछते हैं—"तुमने राम को कहाँ छोड़ा है? क्या वह किसी झाड़ की छाया में बैठा है? क्या उसे खुली धरती पर सोना पड़ता है? मुझे बताओ कि उसने चलते समय हमारे लिए कोई सन्देश भेजा है या नहीं।" सुमन्त्र इसे सुनकर माता-पिता को दिये गये राम के सन्देश से उन्हें अवगत करते हैं और कहते हैं कि उन्होंने माता कौशल्या से कहा है कि दुखी पिता के प्रति वह पहले से भी अधिक सहृदय रहने की कृपा करें और खुद सुमन्त्र से यह कहा है कि वे माँ की इस प्रकार सार-सम्हाल करें मानो सुमन्त्र स्वयं उनके पुत्र हों।

अपने प्रति पुत्र के प्रेमपूर्ण इस सन्देश को सुनकर कौशल्या सम्हलने के बजाय और भी विचलित हो गयीं और पुत्र के वचनों को याद रखने के बदले वे दशरथ पर पहले से भी अधिक बरस पड़ीं। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि राम जैसे उदार हृदय पुत्र के प्रति आपका यह बर्ताव अमानवीय हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि वनवास की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी राम अयोध्या लौटकर राज्य स्वीकार नहीं करेंगे। सिंह किसी का उच्छिष्ट ग्रहण नहीं करता। कैकेयी के प्रति दशरथ के समर्पण की वह निन्दा करने लगती हैं और कहती हैं कि कैकेयी के रूप ने उनकी मति भ्रष्ट कर दी। बेचारे दशरथ सिवा सुनने के क्या कर सकते थे! कौशल्या जो कुछ कहती रहीं, वे सुनते रहे और जब बरसना समाप्त हो गया तो उन्होंने कौशल्या से अपने किये की क्षमा माँगी।

कौशल्या इससे ठण्डी पड़ीं, लज्जित हुईं और उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि उन्हें पति से इस प्रकार के कठोर वचन नहीं कहने थे, क्योंकि वे तो स्वयं ही इस बात से दुखी हैं।

वाल्मीकि ने अपने महान् काव्य में विचारों का यह संघर्ष और उनमें फिर से सन्तुलन उत्पन्न करके समस्या के उस मानवीय हल को सामने रखा है, जो यथार्थ है और कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में जिसके द्वारा शक्ति मिलती है। किन्तु कौशल्या फिर अपने भाग्य को कोसने लगती हैं और अपने पति को सान्त्वना

देने के कर्तव्य का पूरी तरह पालन नहीं कर पातीं। राम के बिछोह और राम की माता के दुख के घनत्व को देखकर दशरथ का दुख बढ़ता ही चला जाता है और वह उसी रात्रि शरीर छोड़ देते हैं। कौशल्या इसके बाद कैकेयी पर बरसती हैं और कहती हैं—जो कुछ हुआ है वह सब तुम्हारे कारण हुआ है।

इसके बाद फिर हम एक अपवाद को छोड़कर कौशल्या को कहीं क्रोधित अवस्था में नहीं देखते। पिता के अन्तिम संस्कारों के लिए भरत अयोध्या लौटते हैं तब फिर कौशल्या के मन में क्रोध उपजता है और वे व्यंग्य-पूर्वक भरत से कहती हैं कि अब तुम निष्कण्टक अयोध्या का राज्य करो। भरत इसे सुनकर नम्रता और धैर्य के साथ अपने निर्दोष होने की बात उन्हें बताते हैं जिसे कौशल्या सहज ही समझ जाती हैं। वे भरत को छाती से लगाती हैं और मानती हैं कि भरत राम से भी अधिक उदार प्रवृत्ति के हैं। वह भरत के साथ चित्रकूट भी जाती हैं। भरत चाहते थे कि राम वापस आ जायें, किन्तु राम अपने सत्यनिष्ठ पिता के सत्यनिष्ठ पुत्र थे। सबके प्रति प्रेम की भावना उन्हें माँ से मिली थी, इसलिए वे भरत के बार-बार कहने पर भी उनकी बात नहीं मानते।

चित्रकूट में कौशल्या एकदम शान्त बनी रहती हैं। किसी प्रकार की भावना या उद्वेग के चिह्न हमें उनमें वहाँ दिखाई नहीं देते। वे अब तक बिलकुल पहले जैसी कौशल्या हो चुकी हैं। वह फिर विनयमूर्ति के रूप में ही दिखाई देती हैं। मानसिक और आध्यात्मिक स्थिरता और सन्तुलन के बीच वह भरत को वैसा ही स्नेह देती हैं जैसा राम को देती थीं।

अन्त में दानवों को पराजित करके वनवास की अवधि की समाप्ति पर जब राम अयोध्या लौटते हैं तब कौशल्या अपने भाग्य से अभिभूत होकर मौन रह जाती हैं। राम उनके चरण छूते हैं, किन्तु वह तब भी चुप ही बनी रहती हैं। इस बीच उनका रंग पीला पड़ गया है, और वह शोक से क्षीण हो चुकी हैं। जब लोग राम को कौशल्यानन्दवर्द्धन(अर्थात् कौशल्या के आनन्द को बढ़ानेवाला) कह कर सम्बोधित करते हैं तब कौशल्या का हृदय उन शाश्वत ऊँचाइयों को छू जाता है, वाणी जिसका वर्णन करने में असमर्थ है। वाल्मीकि ने कौशल्या को उस समय के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'विवर्णा' और 'शोक-कर्शिता' शब्द का प्रयोग किया है। ये शब्द भी असल में उस मन्त्रपूत शब्दों 'ह्री' को ही व्यंजित करते हैं जिसका कोई समानार्थक वर्ण संसार के स्वरार्णव में नहीं है।

□

सुमित्रा

राजा दशरथ की तीन रानियों में सुमित्रा का चरित्र सबसे अधिक रोचक है क्योंकि वह बहुत कम बोलती हैं और उनसे बोलने वाले भी बहुत कम मिलते हैं और वे भी उनसे बहुत कम बोलते या बोलती हैं. फिर भी वह राज-परिवार की सबसे शालीन और प्रतिष्ठित नारी हैं। यहाँ तक कि वह अपने पतिदेव राजा दशरथ से भी कम बोलती हैं और वाल्मीकि के कथा-कथन के क्रम में वह कभी उनसे बोलती-सी नज़र आती ही नहीं और न दशरथ उनसे बोलते पाये जाते हैं। परन्तु राजा दशरथ उन्हीं को ज्यादा प्यार करते थे—कौशल्या और कैकेयी से भी अधिक। इसका प्रमाण तब मिलता है जब राजा दशरथ पुत्रकामेष्टि के फल-स्वरूप प्राप्त 'पायस' को तीन रानियों में बाँटने लगते हैं। पहले वह कौशल्या को पायस का आधा हिस्सा देते हैं, फिर सुमित्रा को बाक़ी बचे में से आधा देते हैं और आख़िर में कैकेयी के पास जाते हैं, पर उनको बाक़ी बचे में से आधा ही देते हैं, पूरा नहीं देते। आख़िर जो बचता है, उसे वह फिर सुमित्रा को दे देते हैं। इस प्रकार सुमित्रा को वह दो बार पायस देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सुमित्रा के प्रति राजा के मन में विशेष अनुराग या अभिमान था क्योंकि जब वह कैकेयी के पास गये तब उनको जो कुछ बचा, दे सकते थे और अगर नहीं देना चाहते थे तो वह हिस्सा बड़ी रानी कौशल्या को दे सकते थे। पर ऐसा नहीं हुआ। वह जान-बूझकर सुमित्रा को अपनी विवक्षा से अतिरिक्त अनुदान के रूप में कुछ और पायस देने के लिए ही कैकेयी के यहाँ आधा हिस्सा और बचा लेते हैं। राजा की इसी विवक्षात्मक बुद्धि की ओर संकेत करते हुए वाल्मीकि उनको 'महामति' कहते हैं।

इसके पीछे क्या रहस्य है? सुमित्रा तीनों रानियों में न सबसे बड़ी है और न सबसे छोटी। फिर भी उनको राजा का प्रेम और अभिमान अनायास और अयाचित मिला है। राज-मर्यादा बड़ी रानी के प्रति आदर की भावना पैदा करती है और दिल की ममता छोटी रानी को प्यार देती है। पर इस मझली रानी

की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह कुछ नहीं चाहती है और जो अपने आप यादृच्छिक रूप से मिलता है, उसी से सन्तुष्ट हो जाती है और उसी को सहर्ष स्वीकार करती है। सुख-दुख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग और विनोद-विषाद सबको वह समान दृष्टि से देखती है। समता की यही भावना सुमित्रा को स्वार्थ से एकदम दूर रखती है और सबके साथ मित्रता के सूत्र में आबद्ध करती है। सुमित्रा की अपनी कोई इच्छा नहीं है और न कोई महत्त्वाकांक्षा है। छोटी रानी कैकेयी के कहने पर धर्मपरायण राम जब दण्डक जाने को तैयार हो जाते हैं तो माँ कौशल्या की ममता उनके मन को विचलित कर देती है और वह अपने बेटे से कहती हैं कि इस घोर अन्याय का विरोध होना चाहिए। पर जब सुमित्रा अपने बेटे लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने को तैयार होते हुए देखती हैं, वह इतनी स्वस्थ्य और शान्त रहती हैं कि पुत्र को आशीर्वाद देने और उसे सन्मार्ग का सदुपदेश देने के अलावा आवेगसूचक एक शब्द भी नहीं कहती हैं। वास्तव में वनवास राम को मिला था और लक्ष्मण अपनी इच्छा से बड़े भाई के साथ जाना चाहते थे। फिर भी सुमित्रा लक्ष्मण को अभीष्ट दिशा से अलग करने का प्रयास नहीं करतीं, बल्कि वह इस बात पर गर्व करती हैं कि उनका पुत्र महान वंश की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाये रखने के लिए संयम और त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। जीवन के उच्च आदर्शों का पालन करने के लिए वह अपने व्यक्तिगत सुख-सन्तोष की परवाह नहीं करतीं। घोर संकट के क्षणों में इस प्रकार का मानसिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए विशाल हृदय और उच्च संस्कार चाहिए। जब कौशल्या ममता की मोहमयी माया में अपने को और अपने भाग्य को कोसकर हताश हो जाती हैं और कैकेयी अपने परिकल्पित स्वत्व की अपेक्षा में राज-मर्यादा का भी उल्लंघन कर निर्लज्ज संघर्ष में पिस जाती है और दूसरों को भी पीसने की कोशिश करती है, उस दशा में केवल सुमित्रा इस संघर्ष से एकदम दूर रहकर सबको सान्त्वना देने का प्रयास करती हैं।

लक्ष्मण को विदा करते समय सुमित्रा का मुँह पहली बार खुलता है। इसके पहले बोलने के अनेक अवसर थे, पर वह बोली नहीं थीं। जब राजतिलक का समाचार राजमाता कौशल्या के पास पहुँच जाता है तब सुमित्रा वहीं पर थीं। पर वह प्रशंसा या अभिनन्दन के रूप में कुछ नहीं बोलतीं। सारा आनन्द वह अपने अन्दर समाये रखती हैं। कौशल्या के आनन्द को वह चुपचाप देखती-परखती हैं और मन-ही-मन प्रसन्न होती हैं कि सत्य, धर्म और न्याय की रक्षा हो रही है। जब राम लक्ष्मण से कहते हैं कि मैंने यह राज्य तुम्हारे लिए स्वीकार कर लिया है तब भी सुमित्रा के चेहरे पर कोई विशेष मुद्रा अंकित दिखाई नहीं देती और वाणी तो उनकी मौन है ही। उनका यह मौन उनकी सात्विक स्थिरता और सहज सौजन्य का प्रतीक है। वह हमेशा कौशल्या के पास रहकर संकट के

क्षणों में उनको सान्त्वना देते हुए उनके मानसिक सन्तुलन को ठीक रखने का प्रयास करती हैं और उनके सुख-दुःख में सहयोगिनी बनकर रहती हैं।

राजतिलक की बात सुनकर जैसे वह पुलकित नहीं हुईं, वैसे वनवास की खबर पाकर भी वह विचलित नहीं होतीं। जब राम अपनी माँ के पास जाकर वनवास की बात बड़े संकोच के साथ रुक-रुककर खोल देते हैं तब कौशल्या एक-दम टूट पड़ती हैं और अपना सन्तुलन खो बैठती हैं। पर सुमित्रा, जो उस समय भी वहीं पर थीं, इस आकस्मिक परिवर्तन पर तनिक भी आश्चर्य नहीं प्रकट करतीं और न राम को या कम-से-कम अपने बेटे लक्ष्मण को वनवास का विचार छोड़कर घर पर रहने की सलाह देती हैं। ऐसा लगता है कि उनको इस बात का कोई धक्का ही नहीं लगा था। परन्तु उनके दिल में माता की ममता ज़रूर है। ममता का यह आवरण इतना विस्तृत है कि उसमें राम और लक्ष्मण दोनों समाविष्ट हैं—शायद पहले राम और फिर लक्ष्मण। पर संसार के स्वाभाविक घटना-चक्र की सात्विकता के प्रति उनके मन में असाधारण आस्था है। उनकी धारणा है कि यह सब किसी दैवी योजना के अनुसार चलता है। इसी दैवी इच्छा के प्रबल आराधक के रूप में वह अपने बेटे लक्ष्मण को विदा करते हुए कहती हैं—

> 'सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वानुरक्तः सुहृज्जने।
> रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति।।"

(बेटा, तुम वनवास के लिए पैदा हुए हो। अपने लोगों के प्रति तुम्हारे मन में सात्विक अनुराग है। राम तुम्हारे बड़े भाई हैं। वन में उनका साथ देने तुम चल पड़े हो। जाओ, अपना कर्तव्य निभाओ। देखो, राम को कोई दिक्क़त न हो। जागरूक रहो।)

वीरमाता के ये वचन सुमित्रा के मुँह से निकले पहले उद्‌गार हैं। अपनी सारी वेदना को अपने अन्दर छिपाकर राग-द्वेष, ममता-मोह, लोभ-लाभ आदि लौकिक भावनाओं से परे होकर त्यागशील पुत्र को तप की ओर प्रेरित करने के लिए वीरता, धीरता और गम्भीरता का यह मंगलमय संगम चाहिए जो सुमित्रा के व्यक्तित्व का सहज आभूषण है। अपने मन को समझाते हुए वह बार-बार कहती हैं—'गच्छ तात' (जाओ, बेटा; जाओ)। इसी वात्सल्यमयी उक्ति को बार-बार दुहराते हुए वह अचानक एक लोकोत्तर बात कह देती हैं जो शब्दों की सीमा को पार कर वेदवती श्रुति की गरिमा को प्राप्त करती है—

> "रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
> अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।।"

(बेटा, राम को अपना पिता दशरथ समझो, जनक की बेटी सीता को मेरे समान (माँ) समझो और विशाल वन को अयोध्या समझो। जहाँ कहीं भी जाओ, सुखी रहो।)

यह उपदेश वनचारी लक्ष्मण के लिए ही नहीं बल्कि जीवन-चारी प्रत्येक प्राणी के लिए लागू होता है। दशरथ केवल राम के पिता नहीं, बल्कि प्रत्येक शरीर दशरथ है जिसमें दस इंद्रियों के रथ चालू हैं। दस रथों पर चलते हुए अपने को ठीक रास्ते पर पाने वाले दशरथ-नन्दन राम लक्ष्मण के आराध्य हैं। राम दशरथ के प्रतीक हैं तो जानकी लोक-माता माँ, रमा या लक्ष्मी की प्रतिकृति हैं। जहाँ जानकी हैं, वहाँ लक्ष्मी हैं। वास्तव में संसार की कोई भी नारी जानकी मानी जा सकती है क्योंकि वह किसी बाप (जनक) की ही तो बेटी है। इस दृष्टि से प्रत्येक नारी को माँ लक्ष्मी के समान देखना उच्च संस्कार का द्योतक है। जब यह उदार दृष्टिकोण अपनाया जाता है तब सारा वन अयोध्या का राजभवन बन जाता है। इस प्रकार यह उपदेश सारे संसार को दिया गया सन्देशामृत है।

इसमें एक और रहस्य है। जब सुमित्रा जानकी को माँ मानने को कहती हैं तब प्रकारान्तर से वह अपने को एक ओर माँ (लक्ष्मी) के साथ एकाकार सिद्ध कर रही हैं। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि विश्व-विधाता ब्रह्मा दशरथ की तीन रानियों का उल्लेख करते हुए उनको ह्री, श्री और कीर्ति की उपमा देते हैं। कौशल्या ह्री (लज्जा और शालीनता) का प्रतीक हैं तो कैकेयी कीर्ति की पताका हैं और सुमित्रा 'श्री' देवी की प्रतिमूर्ति हैं। इसलिए जानकी को 'माँ' के रूप में प्रतिपादित करते समय सुमित्रा एक ऐसी अव्यक्त सत्ता का व्याख्यात्मक समीकरण हमारे सामने प्रस्तुत कर रही हैं जिसे हल करने से एक ही अव्यक्त सत्ता के दो व्यक्त रूप सामने आते हैं। एक जानकी हैं और दूसरी सुमित्रा जो 'श्री' के ही रूपान्तर हैं। सुमित्रा की सारी सूक्तियाँ इसी प्रकार सारगर्भित हैं। 'ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरो' निकलने वाली अक्षय सौन्दर्य-राशि सुमित्रा की सूक्तियों में पायी जाती है।

सुमित्रा और लक्ष्मण दोनों सूक्ष्मग्राहिता के मूर्त रूप हैं। माँ बेटे का दिल पहचानती है और बेटा माँ का इशारा समझ लेता है। मौखिक वार्तालाप के बिना ही मौन संकेतों का मार्मिक विनिमय हो जाता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है—लक्ष्मण के लिए वनवास की अनुमति। जैसे राम अपनी माता कौशल्या की औपचारिक अनुमति लेने के लिए उनके पास जाते हैं और काफ़ी समझा-बुझाकर अन्ततः उनकी स्वीकृति लेते हैं, वैसा लक्ष्मण नहीं करते। वह तो राम की अनुमति भी आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि किसी प्रसंगवश राम ने कभी लक्ष्मण से कहा था—'मद्बुद्धिरनुगम्यताम्' (मेरी सम्मति के अनुसार चलो।) यह बात राम ने लक्ष्मण से उस समय कही थी जब लक्ष्मण कैकेयी के अधर्म निर्णय का डटकर

विरोध करना चाहते थे। उनको धर्म का रहस्य समझाने के लिए राम ने कहा—मेरे कहे अनुसार चलो। इस परामर्श में लक्ष्मण ने 'अनुगम्यताम्' (अनुसार चलो) वाली बात को हृदय में बसा लिया और सोचा कि अगर राम वन जा रहे हैं तो उनके साथ जाने की अनुमति तो मिल ही गयी। बस, यह संकेत मात्र लक्ष्मण के लिए काफ़ी था। इसलिए जब राम लक्ष्मण को ले जाने के लिए राज़ी नहीं होते हैं तब लक्ष्मण इसी संकेत की ओर राम का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं—

"अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम्॥"

(आपने मुझे पहले ही इस बात की अनुमति दे दी थी तो फिर क्यों अब मना करने लगे हैं?)

लक्ष्मण की यह बात सुनकर वाल्मीकि के पाठक चकित हो जाते हैं कि लक्ष्मण को यह अनुमति पहले कहाँ मिल चुकी थी। 'अनुगम्यताम्' वाली उक्ति में इतना मार्मिक बोध लक्ष्मण को छोड़कर और किसको हो सकता है? हाँ, सुमित्रा इस बात को समझ पाती हैं। इसलिए वह अनुज्ञा की बात ही नहीं उठातीं, केवल आशीर्वाद देती हैं और वह भी इतने बढ़े-चढ़े और लम्बे-चौड़े नहीं, बिलकुल संक्षिप्त और सारगर्भित। उनको विश्वास है कि बड़ी रानी कौशल्या ने राम को जो असंख्य और अमोघ आशीर्वाद दिये हैं, वे सबके सब लक्ष्मण का भी साथ देंगे, इसलिए उनको अलग से आशीर्वाद की भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं है। केवल दस पंक्तियों में वह अपनी मंगल कामना व्यक्त करती हैं। जो बात शब्दों में व्यक्त नहीं हो पाती है, वह उनके आँसुओं के माध्यम से टपक पड़ती है। अपनी भावभीनी बातों को सीमित कर वह बार-बार एक ही बात (गच्छ गच्छेति) दुहराती हैं और जैसे ही वह अपनी बात समाप्त करती हैं, वैसे ही उसी क्षण सुमन्त्र आकर खड़े हो जाते हैं और राम के सामने हाथ जोड़ते हैं। सुमित्रा के शब्दों में और सुमन्त्र की सुमनांजलि में कौन-सा ऐसा पूर्वापर सम्बन्ध है, यह वाल्मीकि की वाक्यज्ञता के पारखी ही समझ सकते हैं।

'सुमित्रा' शब्द मित्रता का द्योतक है। वह सबके साथ मैत्री का सम्बन्ध रखती हैं। उनका कोई शत्रु नहीं है। लोकबन्धु भगवान् भास्कर को भी मित्र कहा जाता है। इस प्रकार सुमित्रा की सार्वभौमिक मित्रता सूर्य के सर्वव्यापी प्रकाश का प्रतीक है। तो सुमन्त्र मन का प्रतीक बनकर चन्द्रमा की शीतलता सामने उपस्थित करते हैं। मित्र में मापन है तो मन्त्र में मननशीलता है। दोनों को एक साथ उपस्थित कर वाल्मीकि ने हृदय और मस्तिष्क का अभीष्ट संयोग प्रस्तुत किया है।

अपने पुत्र लक्ष्मण को विदा करते समय सुमित्रा पहली बार मुँह खोलती

हैं। उसके बाद फिर पुत्र-शोक से व्याकुल कौशल्या को सान्त्वना देने के लिए वह अपनी वाणी को प्रयोग में लाती हैं। कौशल्या अपनी वात्सल्यमयी भावना के कारण राम के अप्राकृतिक पराक्रम को पहचान नहीं पातीं। पर सुमित्रा सब कुछ जानती हैं। वह कौशल्या को समझाते हुए कहती हैं—

"रामो धर्मेस्थितः श्रेष्ठो, न स शोच्यः कदाचन।
मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम् ॥
सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यः-अग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रिया श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा-क्षमा ॥
न गात्रमंशुभिः सूर्यः सन्तापयितुमर्हति।
शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिस्सृतः॥
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः।
घर्मघ्नः संस्पृशच्छीत चन्द्रमाह्लादयिष्यति ॥
या श्रीः शौर्यस्य रामश्च या च कल्याणसत्त्वता।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥
त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥"

(धर्म में प्रतिष्ठित राम की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह सूर्य को तपाने वाले सूर्य हैं, अग्नि को जलाने वाले अग्निहोत्र हैं, स्वामियों के स्वामी हैं, लक्ष्मी के लक्ष्मीकर हैं, यश को यशस्वी बनाने वाले यशोधनी हैं और क्षमा को माफ करने वाले क्षमाकार हैं। जब वह वन में विचरने लगेंगे तो सूर्य उनके शरीर को समशीतोष्ण रखेंगे, सुखद समीर उनके अंगों की परिचर्या करेगा, चन्द्रमा रात भर सुहावनी नींद से उनका मन बहलायेगा। और सबसे बढ़कर उनकी सहचरी सीता उनको सश्रीकता प्रदान करेगी। चौदह साल के बाद राम सकुशल अयोध्या लौटेंगे। शोकाकुल सारी नगरी सान्त्वना के लिए आप की तरफ़ देख रही है। इसलिए आपको उदास नहीं होना चाहिए।)

आम तौर पर मौन रहने वाली सुमित्रा को इस प्रसंग में मुखर पाकर हमें आश्चर्य होता है। पर राम की रमणीय कल्पना उनको वाग्मिता प्रदान करती है। यह ध्यान देने योग्य है कि वह अपने पुत्र की कभी प्रशंसा नहीं करतीं और न वह अपने पुत्रों की चिन्ता करती हैं। एक पुत्र लक्ष्मण हमेशा राम की सेवा में लगे रहते हैं और दूसरा पुत्र शत्रुघ्न वाल्मीकि के आश्रम में जिस रात पहुँचते हैं उसी रात को लव-कुश का ज़न्म होता है।

"यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालामुपाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ।।"

इस प्रकार सुमित्रा के दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न राम और सीता की लोकोत्तर शक्ति को संसार में प्रसारित करने के कार्य में योग देते हैं । सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले (सुमित्रानन्दवर्द्धन) दोनों पुत्र अपनी माँ की तरह सेवा का महत्त्व जानते हैं । कौशल्या कोशल देश की राजकुमारी हैं और कैकेयी केकय देश की । पर सुमित्रा किसी देश विशेष की नहीं हैं । देश-काल की सीमा को पार कर वह सबको अपनी मित्रता के माधुर्य से मन्त्रमुग्ध कर देती हैं । इसलिए दशरथ कैकेयी को अपना मलिन विचार बदलने के लिए बार-बार अनुरोध करते हुए कहते हैं कि राम को वनवास देकर मैं सुमित्रा को मुँह कैसे दिखा सकता हूँ और वह मेरे ऊपर कैसे विश्वास कर सकती है ?

सुमित्रा सबके हृदय की अधिष्ठात्री श्रीदेवी की प्रतिकृति हैं । कौशल्या की सात्विकता और कैकेयी की कीर्तिलालसा के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाली सुमित्रा आदि कवि वाल्मीकि की अलौकिक सृष्टि है ।

□

अहल्या

अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मन्दोदरी—पाँच महा-कन्याएँ मानी जाती हैं जिन्हें पौराणिक वाङ्मय में प्रातःस्मरणीयता का महत्त्व दिया गया है। सवेरे उठकर इन पाँच महिलाओं का नाम लेना ही पवित्र कार्य माना जाता है। इन पाँच महिलाओं में से चार महिलाएँ रामायण के अन्तर्गत आती हैं और केवल द्रौपदी का उल्लेख भारत-संहिता में मिलता है। रामायण की चार महिलाओं में से भी अहल्या का इतिवृत्त सबसे पहले आता है—सीता से भी पहले। वास्तव में मिथिला के रास्ते में राम अहल्या से मिलते हैं। बल्कि कहना चाहिए कि अहल्या का शाप-विमोचन होने के पश्चात् ही राम सीता को ग्रहण करने योग्य बन जाते हैं। अहल्या का शाप-विमोचन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण और रोचक घटना है जिसने प्रतिष्ठित विद्वानों, कवियों, समा-लोचकों और दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट किया है, न केवल भारत में, बल्कि सारे विश्व में।

पौराणिक विचारधारा के अनुसार, संसार के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सबसे सुन्दर स्त्री का सृजन किया था और गौतम की एक विशिष्ट प्रकार की तपस्या में योग देने के लिए उसी स्त्री का विनियोग हुआ था। वही यह अहल्या है। समस्त संसार के सौन्दर्य की राशि के रूप में अहल्या गौतम को प्राप्त हुई है। इतनी सुन्दर स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में पाकर भी महर्षि गौतम ब्रह्मचर्य की कठोर तपस्या में लगे हुए थे। हज़ारों वर्ष इस तपस्या में बीत गये और गौतम तथा अहल्या की तपोनिष्ठा में कोई विचलन नहीं हुआ। पर अचानक एक दिन स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का गौतम के आश्रम में आगमन होता है, जब गौतम आश्रम में नहीं थे। देवराज इन्द्र के दिव्य सौन्दर्य को देखकर अहल्या क्षण भर के लिए कमज़ोर हो जाती है। अप्सराओं का मन लुभाने वाले इन्द्र जब स्वयं अहल्या के सामने विलास की लालसा से उपस्थित हो जाते हैं तो देवराज के कुतूहल को शान्त करने के लिए अहल्या राजी हो जाती है। किन्तु ब्रह्मचर्य की निष्ठा में परिनिष्ठित गौतम का

तभी एकाएक आश्रम में आगमन होता है और अहल्या तथा इन्द्र—दोनों उनके प्रचण्ड कोप के भागी बन जाते हैं। अहल्या को इस बात की आशंका थी। इसीलिए वह इन्द्र को विदा करते समय कहती है, 'आत्मानं मां च रक्षस्व।' (अपने को और मुझे बचा लो)। पर दोनों में से कोई बच नहीं पाता। अहल्या अदृश्य बन जाती है और इन्द्र का रूप विरूप हो जाता है।

यह कहानी बिल्कुल छोटी है, लेकिन बहुत ही सारगर्भित और रहस्यात्मक है। इसके वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्तियों ने इसे कई रूपों में प्रस्तुत किया है। राम-काव्य परम्परा में अहल्या का चित्रण अनेक प्रकार से हुआ है। प्रत्येक ने अपनी कल्पना और भावना के अनुसार अहल्या को पवित्र सिद्ध करने का प्रयास किया है। जो कुछ अनैतिक कार्य हुआ था, उसका सारा दोष इन्द्र को देने का प्रयास किया है। गौतम के आश्रम में इन्द्र के प्रवेश की विधि को भी कई लोगों ने कई प्रकार से प्रस्तुत किया है। कुछ ने उनको गौतम के वेश में प्रवेश कराया तो कुछ लोगों ने उन्हें मुर्गे के रूप में आधी रात के समय आश्रम में पहुँचा दिया। आधी रात के समय मुर्गे की आवाज़ सुनकर गौतम प्रभात के भ्रम में नदी की तरफ़ स्नान करने जाते हैं और इस बीच में इन्द्र अपना काम पूरा कर लेते हैं। यह कल्पना देखने में बहुत अच्छी लगती है; पर वास्तविकता से दूर है। आदि कवि वाल्मीकि ने ऐसी कोई अनहोनी या अनोखी कल्पना नहीं की है। अहल्या को जो शाप मिलता है, उसमें भी वाल्मीकि और परवर्ती कवियों में काफी अन्तर है। 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या को पत्थर नहीं बनाया गया था जो कि लगभग सभी परवर्ती रामकाव्यों में पाया जाता है। अहल्या को पत्थर बनाना और उस पत्थर से राम के पैर का स्पर्श होना, पैर के स्पर्श होते ही पत्थर का नारी बन जाना और इस बात से घबराकर राम को नौका पर चढ़ाने में केवट का संकोच करना, ये सब बातें लगभग सभी रामकाव्यों में समान रूप से पायी जाती हैं, केवल वाल्मीकि रामायण को छोड़कर।

वाल्मीकि रामायण में अहल्या को केवल यही शाप दिया गया था कि वह बहुत दिन तक खाना-पीना छोड़कर राख बनकर पड़ी रहे और किसी को दिखाई न दे। इसका मतलब यह हुआ कि चेतनता के जो पाँच लक्षण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सब-के-सब शाप की अवधि में लुप्त हो जाते हैं। सुनने, देखने, स्पर्श करने, किसी चीज़ का स्वाद लेने और सूँघने की शक्ति तब तक स्थगित रहेगी जब तक भगवान् राम के दर्शन न हों, तब तक अहल्या का व्यक्तित्व अदृश्य और प्रच्छन्न रहेगा। यही वाल्मीकि रामायण के अनुसार शाप का विधान है। इन्द्र का रूप भी रामायण में बिल्कुल सीधा-सादा है। उसमें न तो कोई जटिल कल्पना है और न कोई अस्वाभाविक भाव-भंगिमा। इन्द्र गौतम के आश्रम में मुनि के वेश में ज़रूर पहुँचते हैं, लेकिन उनका वास्तविक रूप पहचानने में अहल्या

को देर नहीं लगती। वह जानबूझ कर इन्द्र के प्रलोभन में आ जाती है हालाँकि वह मन-ही-मन अपने पतिदेव के सात्विक क्रोध की विभीषिका से आशंकित होती है। इन्द्र के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध बन जाता है और वह अपनी आन्तरिक तुष्टि को इन्द्र के सामने स्पष्ट रूप से प्रकट भी करती है।

दीर्घकाल की तपस्या से सम्पन्न गौतम पलभर में सब कुछ जान लेते हैं। पहले वह इन्द्र पर हमला करते हैं। इन्द्र का चेहरा देखते ही उनको पता चलता है कि काम-वासना से वह कितना कलुषित था और वह कितने जघन्य स्तर तक पहुँचा हुआ था। इन्द्र को देखते ही वह अपने कमण्डलु से पानी की कुछ बूंदें हाथ में डाल लेते हैं और दाब के सहारे उस पानी को इन्द्र के ऊपर छिड़कते हैं। इन्द्र तत्काल निर्वीर्य बन जाते हैं। वह हमेशा के लिए भोग के अयोग्य बन जाते हैं। जो सुख-लालसा उन्हें स्वर्ग से धरती पर ले आती है, उससे वह एकदम हाथ धो बैठते हैं। अहल्या को जो शाप दिया जाता है, उसमें भी महर्षि की सन्तुलित और समरस भावना है। सुन्दरता देखने की चीज़ होती है। अगर किसी सुन्दर वस्तु या व्यक्ति को दिखाई देने के सौभाग्य से वंचित किया जाये तो इससे बड़ा अनर्थ सौन्दर्य का और कुछ नहीं हो सकता। संसार की सबसे अधिक सुन्दरी अहल्या को इसी प्रकार का शाप मिलता है। उसका सौन्दर्य संसार के सामने तब तक नहीं आयेगा, जब तक प्रेम के मूर्त रूप भगवान् राम के दर्शन न हों। इस शाप के बाद गौतम हिमालय के पहाड़ों में तपस्या करने चले जाते हैं और अहल्या उसी आश्रम में निराहार और निरानन्द पड़ी रहती हैं।

कुछ लोग इसी प्रसंग में इन्द्र को 'सहस्र योनि' बताते हैं जो बाद में शाप के परिशोधन के साथ सहस्राक्ष बन जाते हैं। यह भी कहा जाता है गौतम ने स्वयं अपने शाप को संशोधित कर दिया था। लेकिन वाल्मीकि रामायण में इस तरह की कोई बात नहीं है। असल में जब गौतम क्रोध भरी दृष्टि से इन्द्र की तरफ़ देखते हैं, तभी इन्द्र के लिए सहस्राक्ष नाम का प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्र पहले से ही सहस्राक्ष कहे जाते थे। अगर ऐसी बात नहीं है तो कम-से-कम यह समझा जा सकता है कि जब गौतम इन्द्र की तरफ़ घूरकर देख रहे थे तब इन्द्र ने भी गौतम की तरफ़ हज़ार आँखों से देखा होगा क्योंकि गौतम के शाप की विभीषिका से वह त्रस्त रहे होंगे।

वाल्मीकि रामायण में इन्द्र केवल इन्द्रिय-लोलुप नहीं हैं, केवल काम-वासना से प्रेरित होकर वह अहल्या के पास नहीं जाते, उनके सामने देवताओं की हितसाधना का भी एक ऊँचा लक्ष्य था। गौतम जिस कठोर तपस्या में सफलता प्राप्त कर रहे थे, उसमें बाधा डालना देवहित की दृष्टि में था। इसी देवकार्य के लिए वह गौतम के आश्रम में पहुँचते हैं। वह अपनी प्रतिष्ठा की भी परवाह किये बिना देवकार्य को सफल बनाते हैं। जब यह सब कुछ हो जाने

के बाद वह स्वर्गलोक में वापस पहुँच जाते हैं तो सभी देवता उनका अभिनन्दन करते हैं और इस बात की सराहना करते हैं कि अहल्या का मन लुभाकर वे गौतम जैसे ऋषि की तपस्या में बाधा डाल सके। लौकिक दृष्टि से देखने में यह बात कुछ अजीब-सी लगती है। लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है।

गौतम की भविष्यवाणी के अनुसार अयोध्या के राजकुमार बालक राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण और मन्त्रगुरु विश्वामित्र के साथ सिद्धाश्रम (गौतम के आश्रम) में पहुँचते हैं। देखने में अत्यन्त सुन्दर लगने वाले आश्रम में एकदम सूनापन देखकर राम को आश्चर्य होता है और उनके कुतूहल को शान्त करने के लिए विश्वामित्र सारी पुरानी कहानी सुनाते हैं। कहानी सुनते-सुनते जैसे ही राम विश्वामित्र के पीछे-पीछे आश्रम में पैर रखते हैं, वैसे-वैसे एक सुन्दर नारी का आकार अपनी प्रच्छन्न कान्ति को प्रकट करते हुए राम के सामने उभरता हुआ दिखाई देता है। यह देखकर राम को आश्चर्य होता है कि सृष्टिकर्ता की यह अपूर्व सृष्टि अब तक कैसे छिपी रही। धुएँ से ढकी हुई ज्योति की तरह, कुहासे से धूमिल पड़ी हुई चाँदनी की तरह, काले-काले बादलों से घिरी हुई दोपहर की धूप की तरह अब तक छिपी पड़ी छवि धीरे-धीरे अपनी छटा फैलाने लगती है। जैसे ही राम अहल्या के अदृश्य रूप के पास पहुँच जाते हैं, वैसे ही वह अदृश्य सत्ता एकदम दृश्य बन जाती है। अहल्या की सारी तपस्या सफल बन जाती है। राम और लक्ष्मण अहल्या के पैर छूते हैं। अपने शाप का विमोचन करने वाले परम रमणीय राजकुमार राम को अपने पैर छूते हुए देखकर अहल्या के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। वात्सल्य, कृतज्ञता और आनन्द का मंगलमय संगम अहल्या के मन में आह्लाद की सरिता बहा देता है। वह तुरन्त आसपास से फल-फूल ले आकर आराध्य अतिथि का स्वागत-सत्कार करती हैं। उनके आतिथ्य को राम सहर्ष स्वीकार करते हैं। ठीक उसी समय गौतम भी घटना-स्थल पर पहुँच जाते हैं और राम के सामने अहल्या को फिर अपना लेते हैं। ऊपर से देवता फूल बरसाते हैं। अहल्या की सहिष्णुता और तपस्या को सब लोग सराहते हैं। गौतम और अहल्या के पुनर्मिलन के बाद राम धनुष-यज्ञ को देखने के लिए मिथिला की तरफ़ चल पड़ते हैं।

अहल्या की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। मिथिला के राजपुरोहित शतानन्द को विश्वामित्र के द्वारा यह वृत्तान्त संक्षेप में बताया जाता है। नपे-तुले शब्दों में विश्वामित्र कहते हैं—

> "नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत् कर्तव्यं कृतं मया।
> संगता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव रेणुका॥"

(जो काम करना था और जिस रूप में करना था, उसे उसी रूप में सम्पन्न कराया

गया है। मुनि-पत्नी का मुनि से पुनर्मिलन कराया गया है जैसे परशुराम द्वारा रेणुका को उनके पति से मिलाया गया ।)

यह बात सुनते ही शतानन्द राम की तरफ़ देखते हैं और विश्वामित्र जैसे पथ-प्रदर्शक को पाने पर उनको बधाई देते हैं । यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस घटना का सारा श्रेय वह विश्वामित्र को देते हैं, हालाँकि अहल्या का उद्धार राम ने किया था, विश्वामित्र ने नहीं । इससे स्पष्ट होता है कि अहल्या के उद्धार में राम का जितना हाथ था, कम-से-कम उतना विश्वामित्र का भी था । अगर विश्वामित्र सिद्धाश्रम होते हुए नहीं जाते तो अहल्या के उद्धार का प्रश्न ही नहीं उठता । मार्ग दिखानेवाले विश्वामित्र थे और उस मार्ग पर चलने का काम राम का था । कितने भाग्यशाली थे महर्षि विश्वामित्र जो परब्रह्म राम को कल्याण का मार्ग दिखा रहे थे । राम के अन्दर छिपी हुई दिव्यता को बाहर प्रकट करना विश्वामित्र का परम कर्तव्य था । राम की दिव्यता को विश्वामित्र सबसे अधिक जानते थे । इसलिए वह दशरथ से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं 'मैं जानता हूँ कि दशरथ के पुत्र राम कौन हैं, कितने महान् हैं (अहम् वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्) ।

यह ध्यान देने की बात है कि रामायण की कथा में विश्वामित्र का प्रवेश और निष्क्रमण, दोनों अचानक होते हैं पर एक निश्चित उद्देश्य को लेकर । जब राजा दशरथ अपने पुत्रों के विवाह की बात सोच रहे थे, उसी समय राज-परिवार में विश्वामित्र का प्रवेश होता है । लेकिन विश्वामित्र अपनी बातचीत के दौरान शादी-ब्याह की कोई बात नहीं करते । वह अपने ही काम से अपने साथ राम को ले जाने आते हैं और रास्ते में ब्रह्मचारी राम को अवसर पाकर ब्रह्मतेज प्रदान करते हैं, बला और अतिबला नाम की विद्याएँ प्रदान करते हैं, अनेक प्रकार के अस्त्र और शस्त्र देते हैं, ताड़का का वध कराते हैं, अहल्या का उद्धार कराते हैं और कई स्थानों से होते हुए मिथिला पहुँचकर वहाँ चारों राज-कुमारों का विवाह कराते हैं । विवाह के सम्पन्न होते ही वह फिर अपने आश्रम में वापस चले जाते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि सीता-राम के मिलन के लिए ही विश्वामित्र आये थे, यज्ञ-रक्षा तो एक बहाना था ।

जानकी और दाशरथी के इस अपूर्व मिलन में अहल्या के उद्धार का विशेष महत्त्व है । यह याद रखना चाहिए कि ब्रह्मर्षि विश्वामित्र गायत्री मन्त्र के द्रष्टा थे और गायत्री वेदमाता मानी जाती हैं । इस पवित्र मन्त्र को पूर्णरूप से आत्म-सात् करने के बाद ही राम अपनी जीवनसंगिनी जानकी को पाने योग्य बनते हैं और अहल्या का उद्धार इस पवित्रता की प्राप्ति का प्रबल प्रमाण है । ब्रह्मचर्य के तेज से आप्लावित राम के दर्शन मात्र से अहल्या का सारा पाप धुल जाता है । इसी बात को दृष्टि में रखकर शतानन्द राम को बधाई देते हैं । संसार को

असुरों के आतंक से बचाने के लिए राम धरती पर उतर आते हैं। इस देवकार्य में वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य आदि महर्षियों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्हीं की तपस्या के फलस्वरूप राम का जन्म होता है। विश्वामित्र के मन में सीता-राम के मिलन की पूरी योजना है। अगर ऐसी बात न होती तो यज्ञ की रक्षा होने के बाद वह दोनों राजकुमारों को अयोध्या वापस भेज सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। यज्ञ-रक्षा के बाद जो भी घटना घटती है, वह विश्वामित्र की निजी योजना का कार्यान्वित रूप है। रास्ते में विश्वामित्र राजकुमारों का मन कई रमणीय कहानियों से बहलाते हैं और ये सारी कहानियाँ अहल्या के वृत्तान्त में अपने आशय की पराकाष्ठा को प्राप्त करती हैं। जानकी जैसी अयोनिजा कन्या को प्राप्त करने के लिए न केवल विश्वामित्र का साहचार्य आवश्यक था, बल्कि अहल्या जैसी साध्वी की आत्मीयता भी आवश्यक थी। धरती की धूल में समायी हुई सुन्दरता को संसार के सामने प्रकट करने की क्षमता, आश्रम में जिनके पदार्पण मात्र से संभव हो, वे ही माँ धरती की वेटी जानकी के लिए आराध्य हो सकते हैं।

इन सब घटनाओं के पीछे जो रहस्य छिपा है, उसे समझाने के लिए अहल्या शब्द के वास्तविक और पारमार्थिक महत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक है। लौकिक दृष्टि से जो ज़मीन-खेती बारी के लिए और फ़सल उगाने के लिए लायक़ नहीं होती, उसी का नाम अहल्या है। गौतम धरती और स्वर्ग को मिलाने वाले सम्पर्क सूत्र हैं। लेकिन गौतम का सम्पर्क मानसिक और आध्यात्मिक है जबकि शारीरिक सम्पर्क इन्द्र के माध्यम से सम्पन्न होता है। अहल्या लौकिक सम्पत्ति के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करती है। केवल भूमिका ही नहीं, बल्कि अनेक भूमिकाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अक्षर, शब्द या वाणी से सम्बन्धित है। अकार से लेकर हकार तक जितने अक्षर हैं, उन्हीं का मूर्त रूप 'अ-हल्-या'—अहल्या है। अहल्या का सौन्दर्य अक्षर-भारती का अक्षय सौन्दर्य है। मानव-शरीर के विभिन्न केन्द्रों को नियन्त्रित करनेवाली 'या' 'देवी कुण्डलिनी', 'स्वाधिष्ठान, 'मणिपूरक', 'अनाहत', 'विशुद्धि' और 'आज्ञा' से परे अनन्त सौन्दर्य की लहरियों में स्वयं आनन्दित रहते हुए दूसरों को आनन्द प्रदान करती है। जीव-जगत् की वही साम्राज्ञी अहल्या है, जिसे इन्द्र जैसे लौकिक प्राणी लौकिक दृष्टि से देखते हैं और गौतम जैसे बुद्धिजीवी बौद्धिक दृष्टि से अपनाते हैं। लेकिन सर्ववर्णात्मिका अक्षर सुन्दरी का वास्तविक महत्त्व न शारीरिक है और न मानसिक। इन दोनों से परे अलौकिक, आध्यात्मिक दृष्टि ही अहल्या को सही रूप से देख सकती है और सबको दिखा सकती है। यही आध्यात्मिक चेतना राम के व्यक्तित्व में मूर्त रूप धारण करती है। गौतम विद्वत्ता के प्रतीक हैं और इन्द्र सम्पन्नता के। वाणी का वरदान न तो सम्पन्नता से साध्य है और न

विद्वत्ता से प्राप्य। कभी-कभी लगता है कि वाणी विद्वत्ता की निजी सम्पत्ति है। पर जब तक विद्वता को विभु की विलक्षण दृष्टि प्राप्त नहीं होती, तब तक वह वाणी का वास्तविक सौन्दर्य देख नहीं पाती।

इसी परिप्रेक्ष्य में अहल्या के वृत्तान्त का वास्तविक रहस्य समझना चाहिए। रामायण की प्रत्येक कहानी लौकिक और अलौकिक, दोनों दृष्टियों से अपना महत्त्व रखती है। लौकिक दृष्टि से अहल्या की कहानी रोचक और विचार-वर्द्धक है। पारमार्थिक दृष्टि से यह आदि कवि के अक्षरमय सन्देश को ध्वन्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। जानकी से मिलने के पहले अहल्या का उद्धार परंज्योति के दर्शन के पहले वाणी की रमणीयता के साक्षात्कार का प्रतीक है। परम सत्य को प्राप्त करने के लिए वाणी हमेशा सक्षम नहीं होती और मन की भी वहाँ तक पहुँच नहीं हो पाती है। जैसे कि उपनिषद्कारों ने अनुभव किया था, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। जहाँ वाणी और मन की पहुँच नहीं है, वहीं मिथिला की राजकुमारी सीता का अवस्थान है। लेकिन वाणी की रमणीयता और मन की निर्मलता परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए बिल्कुल अनिवार्य है, हालाँकि वह पर्याप्त नहीं मानी जा सकती। इन दोनों के अलावा द्रष्टा का मार्ग-दर्शन भी आवश्यक है और यह काम विश्वामित्र करते हैं।

लौकिक दृष्टि से देखने पर भी अहल्या की तपस्या का अपना महत्त्व है। गौतम की तपस्या में सहयोग देना ही उनकी तपस्या का ध्येय है। इस महती साधना में जो भी त्रुटि होती है, उसका मार्जन हज़ारों वर्ष की तपस्या से ही सम्भव हो पाता है। जिस प्रकार अहल्या की दुर्बलता मुनि की तपस्या में बाधक सिद्ध हुई, उसी प्रकार गौतम की उद्विग्नता उनको तपस्या के मार्ग से तनिक विचलित कर देती है। इन्द्र को शाप देने में शायद कोई दोष नहीं है। लेकिन अहल्या को भी शाप देना एक महर्षि के लिए अपेक्षित सन्तुलन और समदृष्टि में बाधक बन जाता है। इसलिए गौतम को भी फिर तपस्या करनी पड़ी। सबको अपनी-अपनी तपस्या के फलस्वरूप राम के दर्शन होते हैं। श्रद्धा और प्रेम के पावन वायुमण्डल में सारा पाप धुल जाता है और मिथिला का मार्ग प्रशस्त बन जाता है। अहल्या के स्रष्टा का आशय यही है।

□

अनसूया

अनसूया और सीता का समागम रामायण में अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड के संगम-स्थल पर होता है। सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट से चलते-चलते अत्रि के आश्रम में पहुँच जाते हैं जो कि दण्डकवन का प्रवेश-द्वार है। यहाँ पर अत्रि की साध्वी पत्नी अनसूया से सीता की भेंट होती है। रामायण के इतिवृत्त में ही नहीं, बल्कि रामपत्नी जानकी के चरित्र के विकास में भी इस प्रसंग का विशेष महत्त्व है। रामायण, जैसा कि पहले देखा गया, राम और सीता (रामा) का समन्वित 'अयन' है। यह अयन या अभियान वास्तव में चित्रकूट में भरत को विदा के बाद ही आरम्भ होता है। राम के अयोध्या वापस आने तक राज-काज देखने के लिए विवश होकर भरत राम की पादुका लेकर घर चले जाते हैं और इधर राम सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डकवन की ओर चल पड़ते हैं। चित्रकूट वैसे अत्यन्त रमणीय स्थान था, पर कई भौतिक और मानसिक कारणों से राम को वह स्थान छोड़ना पड़ता है। यहाँ से राम के आध्यात्मिक 'अयन' का आरम्भ होता है जिसका पहला अवस्थान अत्रि का आश्रम है।

सीता, राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम में पदार्पण करते हुए देखकर अत्रि का मन आनन्द से आप्लावित होता है और वह अपने अतिथियों का इतना हार्दिक स्वागत करते हैं कि ऐसा लगता है कि वह पहले से उनकी प्रतीक्षा में बैठे हों। इस स्वागत की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें राम का केवल नाम लिया जाता है और सारा सम्मान, सत्कार और संवाद सीता और अनसूया के बीच में होता है। प्रारम्भिक अभिवादन के बाद राम अत्रि को अपनी पत्नी का परिचय कराते हैं, तो अत्रि तुरन्त अपनी पत्नी अनसूया से उनका परिचय कराते हैं। इस परिचयवृत्त के दौरान अनसूया के आध्यात्मिक जीवन का अद्भुत चित्र हमें अत्रि के माध्यम से ही प्राप्त होता है। प्रायः कोई भी पति अपनी पत्नी की प्रशंसा इतने मुक्त कण्ठ से करना नहीं चाहता। पर यह प्रसंग ही अनसूया को लेकर है और सीता-राम को अनसूया की महिमा का परिचय कराना ही नहीं,

बल्कि उनके अमोघ आशीर्वाद का सम्बल दिलाना भी अत्रि का पवित्र कर्तव्य था।

इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर महर्षि अत्रि राम को अनसूया के बारे में बहुत-सी बातें बताते हैं। अनसूया साधारण महिला नहीं हैं। दस हजार वर्ष की कठोर तपस्या के कारण निष्ठा, नियम, संयम, सहिष्णुता और पवित्रता के लक्षण उनकी मुखमुद्रा में ही दिखाई देते हैं। तपश्चर्या के फलस्वरूप उनमें अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं जिनका उपयोग वह कभी-कभी लोक-कल्याण की भावना से करती हैं। जब सारा संसार घोर अकाल से पीड़ित था तो अनसूया ने कन्द-मूल, फल-अनाज आदि का निर्माण कर भूखी जनता को शोषण से बचाया था। एक बार अपने पतिदेव के अनुष्ठान में सुविधा पैदा करने के लिए उन्होंने गंगा जी के प्रवाह को अपने आश्रम की ओर परिचालित कर लिया था। एक बार जब महर्षि माण्डव के अभिशाप से त्रस्त शाण्डिली ने अपने को वैधव्य से बचाने के लिए अनन्त निशा का आतंक फैलाया तो सभी देवता भयभीत हो गये। उन्होंने जब अनसूया से शान्ति का समाधान माँगा तो उन्होंने दस दिशाओं को एक ही दिशा में समाविष्ट कर सबकी समस्या का हल किया था।

इस प्रकार की चमत्कार भरी घटनाओं का वर्णन सुनकर राम मन-ही-मन पुलक उठते हैं और अपनी पत्नी को बुलाकर कहते हैं, "यह तुम्हारा सौभाग्य है जो हमें यहाँ ले आया है। जाकर इस साध्वी वृद्धा से मिल लो।" महर्षि का आशीर्वाद और पति की आज्ञा लेकर सीता अनसूया के पास जाकर प्रणाम करती हैं और उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछती हैं। अनसूया भी सीता को प्यार से अपने पास बुलाकर बिठा लेती हैं। दोनों का यह मिलन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अनसूया उम्र में जितनी बड़ी हैं, सीता उतनी छोटी हैं। पर दोनों तत्त्वतः साध्वी स्त्रियों की गणना में आनेवाली प्रसिद्ध महिलाएँ हैं। अन्तर केवल यही है कि अनसूया में आध्यात्मिक साधना परिपक्व दशा पर पहुँच गई है और सीता की आध्यात्मिकता अभी प्रकट होने को है और इसके लिए आवश्यक प्रसंग बाधाएँ और पहेलियाँ आनेवाले समय की प्रतीक्षा में हैं। सीता की इसी भावी गरिमा का अनुमान लगाकर वाल्मीकि दोनों के लिए अनसूया शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं—'सा त्वेवमुक्त्वा वैदेही अनसूयानसूयया।' (अनसूया वैदेही ने अनसूया से कहा…)।

यहाँ परवाक्यकोविद वाल्मीकि 'अनसूया' शब्द की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। अनसूया वैदेही अनसूया से बात कर रही हैं—कितनी सुन्दर बात है। अत्रि की पत्नी अनसूया नाम से अनसूया है जब कि राम की पत्नी अनसूया सीता स्वभाव से अनसूया है। 'अनसूया' का शब्दार्थ है—'अनसूया या ईर्ष्या से रहित'। दूसरों के गुणों पर ध्यान दिये बिना उनमें दोष का ही आविष्कार

करना (परगुणेषु दोषाविष्करणम्) 'असूया' है। इस प्रकार की अस्वस्थ मनोवृत्ति से दूर निर्मल और निर्लिप्त अन्तःकरण वाली स्त्री को 'अनसूया' की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न रहना 'अनसूयता' का लक्षण है। असूया मनुष्य मात्र की दुर्बलता है और अनसूया दिव्यता का द्योतक है। असूया के लौकिक स्तर से परे अनसूया की अलौकिक भाव-भूमिका पर पहुँचकर ही अत्रि के आश्रय में अनसूया और सीता का समागम होता है।

'अनसूया' शब्द से एक और अर्थ निकलता है। 'सू' धातु से यह शब्द बनता है। 'सू' धातु का मतलब है—पैदा करना, जन्म देना, निष्पन्न करना आदि। सोमरस का उत्पादन करने वाले यज्ञ, याग आदि ऋतुओं को इसी अर्थ में 'सूय' कहा जाता है, जैसे पाण्डवों के द्वारा आचरित 'राजसूय' यज्ञ। जो पैदा कर सकता है, वह 'सूय' है तो जो पैदा नहीं कर सकता है, वह 'असूय' बनता है। इस प्रकार 'अनसूया' का मतलब होगा—जो पैदा करने की क्षमता से वंचित नहीं है। ईर्ष्या या असूया में नई चीज़ पैदा करने की क्षमता नहीं रहती है। वह स्वयं मिट जाती है और दूसरों को भी मिटाती है। पर अनसूया या अनीर्ष्या इसके विपरीत सब कुछ पैदा कर सकती है, सबको सब कुछ देती है और इसी प्रदत्ति की भावना से अन्दर-ही-अन्दर निरन्तर आनन्दित रहती है। यही 'अनसूया' शब्द का निहितार्थ है।

पौराणिक प्रमाण के अनुसार अनसूया के तीन पुत्र हैं—दत्त (दत्तात्रेय), दुर्वासा और अतिसोम। अर्यमा नाम का एक पुत्र और अमला नाम की पुत्री भी उन्हीं की सन्तान के रूप में विख्यात हैं। लगातार दो जन्मों में वह अत्रि की पत्नी रहीं और कुल मिलाकर पाँच बच्चों को उन्होंने जन्म दिया था। लेकिन संसार की साधारण महिलाओं की तरह उनकी सन्तान नहीं हुई थी। उनकी तपस्या ही फलवती बनकर सन्तान के रूप में परिणत हुई। इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि एक बार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर उनकी गोद में बच्चे बन गये थे। कहानी इस प्रकार है—अनसूया आदर्श पतिव्रता के रूप में इतनी प्रख्यात बन गयी है कि लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती के मन में ईर्ष्या पैदा हो गयी और उन्होंने अनसूया की पवित्रता की परीक्षा लेने का संकल्प किया। इसके लिए उन्होंने अपने पतियों—विष्णु, ब्रह्मा और शंकर—को अनसूया के घर भेजा। अनसूया ने अतिथियों का बड़े आदर-सत्कार के साथ सम्मान किया और लोहे के चने बनाकर खिलाने को तैयार हो गयी। पर छद्म परीक्षा लेने आए हुए अतिथियों ने यह इच्छा प्रकट की कि अनसूया अपने अतिथियों को निर्वसन होकर खाना खिलाये। अनसूया असमंजस में पड़ गयी, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने अपनी तपस्या के बल पर तीनों मूर्तियों को शिशुओं के आकार में बदल दिया और प्यार से उनको खाना खिलाया। लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती अपने पतियों को

अनसूया के आश्रम में आराम से झूला झूलते हुए देखकर शर्मिन्दा हो गयीं और साध्वी नारी से पति-भिक्षा माँगकर घर लौट गयीं। कहानी बहुत ही अजीब और रोचक है। इसके पीछे यही रहस्य है कि असूया पर विजय पाने वाली महिला (अनसूया) के सामने सारा संसार शिशुवत् बन जाता है।

पर अनसूया का वास्तविक महत्त्व पहचानने के लिए अत्रि जैसे तपस्वी का मनस्तत्त्व भी आवश्यक है। सत्त्व, रज और तम से बँधा हुआ तथा स्वप्न, सुषुप्ति और जागरण में भटकता हुआ त्रिगुणात्मक जीव अनसूया को अपनाने की बात दूर रही, कम-से-कम समझ तक नहीं पायेगा। तीन लोक, तीन अवस्थाएँ, तीन गुण, तीन ताप आदि सांसारिक मायात्रयी के द्योतक हैं जिनसे परे होकर सोचनेवाला तपस्वी अत्रि (न + त्रि) की संज्ञा पाने योग्य बनता है। इसलिए अत्रि अनसूया की प्रशंसा करने में औचित्य का दोष नहीं पाते। इसी दृष्टि से अत्रि और अनसूया के आश्रम में सीता, राम और लक्ष्मण का आगमन और सीता-अनसूया का वार्तालाप रामायण के कथा-क्रम में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसी परिप्रेक्ष्य में सीता और अनसूया का संवाद समझना चाहिए।

सीता के कुशल-प्रश्न का उत्तर देते हुए अनसूया सीता को बधाई देती हैं और कहती हैं कि वनवास की पीड़ा की परवाह किये बिना उनका अपने पति की परछाईं के पीछे-पीछे चलना उनकी पतिनिष्ठा और सेवा-परायणता का प्रमाण है। पति की अनन्य सेवा-शुश्रूषा करने वाली साध्वी पत्नी के आदर्श गुणों का विस्तार से वर्णन करते हुए वह आशा प्रकट करती हैं कि मिथिला की राजकुमारी जानकी इसी आदर्श को लेकर आगे बढ़ेगी और आगे के संसार के लिए आराध्य अनुराग और त्याग की आदर्श प्रतिमा बन जायेगी। जानकी भी तपस्विनी की इन बातों को बड़ी श्रद्धा से सुनती हैं और कहती हैं कि बचपन में उनकी माता और बाद में उनकी सास ने भी उनको इसी प्रकार की शिक्षा दी है और राम जैसे जीवन-संगी को पाकर वह अपने को सच्चे अर्थों में सौभाग्यवती मानती हैं। माता, पिता, भ्राता सबकी अपेक्षा राम का प्रेम उनके जीवन का अक्षय पाथेय है और ऐसे योग्य पति की सेवा करने में वह सावित्री, रोहिणी और अनसूया जैसी आदर्श महिलाओं का अनुसरण करने का प्रयास करती हैं।

मैथिली की मीठी-मीठी बातें सुनकर अनसूया का अन्तरंग आनन्द से पुलक उठता है। जी चाहता है कि और कुछ शब्द सुनें (इधर जानकी भी अनसूया की बातें अधिक-से-अधिक सुनना चाहती हैं)। वह जानकी का मुँह चूमकर कहती हैं कि बताओ, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ। वैदेही बड़ी विनम्रता से कहती हैं कि बस, सब कुछ मिल चुका है और क्या चाहिए। इस पर अनसूया और भी प्रसन्न होती हैं और तुरन्त एक दिव्य वस्त्र, अंगराग और कण्ठहार बेटी सीता को देती हैं। राम की पत्नी इसे संकोच और सन्तोष के साथ सहर्ष स्वीकार करती हैं।

कृतज्ञता और प्रसन्नता सीता को अनसूया के अधिक निकट खींच लेती हैं। वह लगभग अनसूया की गोद में बैठ जाती हैं। कभी मलिन न बनने वाला वस्त्र, कभी न मुरझाने वाला हार और परियों का मन लुभाने वाला चन्दन भी सीता के सहज सौन्दर्य की समता नहीं कर पाते हैं। सीता चाहती हैं कि अनसूया कुछ कहें और अनसूया की इच्छा है कि सीता की सुखद शीतल वाणी कुछ और सुनने को मिले। आखिर अनसूया कहती हैं, "बेटी, तुम्हारी शादी से बारे में मैंने बहुत से लोगों से बहुत-सी बातें सुनी हैं। जरा तुम ही बताओ कि क्या हुआ, कैसे हुआ ?"

इस पर सीता अपनी राम-कहानी सुनाने लगती हैं। एक-एक अक्षर तौल-तौल कर नपी-तुली शैली में सीता-राम-समागम का वर्णन सीता के मुँह से सुनने का दुर्लभ अवसर न केवल अनसूया को मिलता है, बल्कि वाल्मीकि की कृपा से समस्त पाठकों को भी मिलता है। यह सारा प्रसंग अट्ठाईस श्लोकों में पूरा हो जाता है। बिल्कुल घरेलू शैली में पिता की प्रतिज्ञा, राम का मिथिला-दर्शन, मुनि का इशारा, धनुष-भंग, राम का अलौकिक पराक्रम आदि सारी बातें संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित रूप में बतायी जाती हैं। राजा जनक से आरम्भ होकर राजा राम के गुणगान के साथ समाप्त होने वाली यह राम-कहानी 'देवी रामायण' कही जा सकती है क्योंकि यह देवी के मुख से निकली है। इस प्रसंग का वास्तविक महत्त्व अनसूया ही पहचान सकती है। ऐसा लगता है कि दृष्टि मुँह खोलकर बोल रही है और वाणी नयन खोलकर सुन रही है।

अनसूया अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करते हुए कहती हैं—"जी चाहता है कि तुम बोलती रहो और मैं सुनती रहूँ। पर सूरज धीरे-धीरे पश्चिम का पहाड़ पार कर जा रहा है और सचराचर जगत् को यह इशारा दे रहा है कि यह आराम करने का समय है। पशु-पक्षी अपने-अपने घर-घोंसलों में वापस जा रहे हैं। पेड़-पौधे भी श्वास-प्रश्वास की गति को धीमी बनाकर संध्या की आराधना में लगे हुए हैं। रात की सुहावनी छाया में सारा संसार अपने को सोने की दुनिया के हाथ में सौंपकर कुछ खोना और कुछ पाना चाहता है। इसलिए अब तुम भी विश्राम करो।"

अनसूया की इन बातों में कितना मार्मिक संकेत है और कितनी मधुर भावना है, यह सीता ही समझ सकती हैं। सुषमा और विभीषिका का सहज संयोग प्रकृति के कण-कण में और प्रत्येक प्राकृतिक घटना में कितना स्पष्ट और कितना आकर्षक चित्र अंकित कर जाता है, यही अनसूया की आनन्द गीतिका का आशय है।

अनसूया का आशीर्वाद, अनुग्रह और अनुराग साथ लेकर सीता अपने पति राम के पास जाती हैं और सारी कहानी सुनाती हैं। राम सीता को बहुत-बहुत

बधाई देते हैं। अनसूया के आश्रम में सीता, राम और लक्ष्मण की रात आराम से बीतती है और अगले दिन प्रातःकाल ही वे महर्षि और महासाध्वी का आशीर्वाद लेकर दण्डकवन की ओर चल पड़ते हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि अयोध्याकाण्ड के इस अन्तिम प्रसंग में राम की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई नहीं पड़ती। अत्रि का भी उनसे विशेष संवाद नहीं होता। सारी बातें अनसूया और सीता के बीच में होती हैं। दण्डकवन में प्रवेश करने के पहले राम अत्रि के आश्रम में जाते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वन-जीवन से भलीभाँति परिचित महर्षि अत्रि राम को पथ-प्रदर्शन के रूप में कुछ उपयोगी बातें बता दें या सावधानी के रूप में सतर्कता के कुछ संकेत दें। पर ऐसा कुछ नहीं होता है। सारा सम्मान-सत्कार सीता का अनसूया के माध्यम से होता है। इन सब बातों से यही संकेत मिलता है कि जीवन में सारी प्रतिष्ठा, विजय और उपलब्धि का आधार पुरुष की अपेक्षा नारी का व्यक्तित्व है। पुरुष के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन की सफलता नारी की पवित्रता, निष्ठा, दृढ़ता और सेवा-भावना पर निर्भर है। अनसूया की अलौकिक पवित्रता के कारण ही अत्रि का नाम विख्यात हुआ है। इसी प्रकार भविष्य में राम के जीवन में होने वाली अलौकिक लीलाओं की आधार-भूमि जानकी का शील, सामर्थ्य और सौन्दर्य है। इसी सामर्थ्य को प्राप्त कराने के लिए विधाता के संकेत पर सीता और अनसूया का समागम हुआ है। राम और सीता(रामा) के 'अयन' में इस प्रसंग का यही वास्तविक महत्त्व है।

□

शबरी

जैसे अयोध्याकाण्ड के अन्त में अनसूया से सीता का समागम होता है, वैसे अरण्य-काण्ड के अन्त में राम से शबरी की भेंट होती है। नियम, निष्ठा, निरीहता और निर्लिप्तता की मूर्ति शबरी का प्रसंग राम-कथा के क्रमिक विकास में एक विशिष्ट सोपान की ओर संकेत करता है। शबरी का आश्रम पम्पा सरोवर के तट पर दण्डक और किष्किन्धा के बीच में बसा हुआ है। मतंग महामुनि और उनके शिष्यों ने इस आश्रम को अपनी तपस्या के बल पर लोकोत्तर लावण्य और निर्मलता से आकर्षक बनाया था। रंग-विरंगे फूल, मीठे अनूठे फल और अमृत को भुला देने वाला पेय जल इस आश्रम की अनमोल विशेषताएँ हैं। यहाँ के ऋषि-मुनियों की सेवा-शुश्रूषा में सारा जीवन समर्पित कर शबरी अपने को कृत-कृत्य समझती है और केवल राम के दर्शन की लालसा लेकर वह अपने जीवन की संध्या के सुनहले क्षण बिताती है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि राम के आगमन के बारे में शबरी बिलकुल आश्वस्त थी। कहाँ अयोध्या और कहाँ पम्पा! जब राम अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं तभी यहाँ के आश्रमवासी अनुमान लगाकर शबरी से कहते हैं कि राम यहाँ पर ज़रूर पधारेंगे और वह उनका आदर-सत्कार कर अपने जीवन का फल प्राप्त करें। मुनियों की इस वाणी में जितना सत्य था, उतनी ही निष्ठा वृद्ध और प्रबुद्ध महिला शबरी में थी। यही निष्ठा राम को पम्पा के पास बुला लाती है।

इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि पम्पा सरोवर और शबरी के आश्रम के सम्बन्ध में राम और लक्ष्मण को जानकारी देने वाले कबन्ध नाम के राक्षस हैं जिनका संहार या उद्धार राम और लक्ष्मण के द्वारा सम्पन्न होता है। कण्ठ से कटि तक के मध्य कूट में सारा शरीर समाकर दण्डकवन में विचरण करने वाले कबन्ध को जब अपनी जीवन-यात्रा का पूर्वापर ज्ञान होता है, तब वह राम और लक्ष्मण को आगे का रास्ता दिखाने में समर्थ होता है। पम्पा के तट पर शबरी

का आश्रम भी है और सुग्रीव का प्रवास-स्थान ऋष्यमूक भी। कबन्ध के दिखाये गये रास्ते के अनुसार राम पहले शबरी के आश्रम में जाकर मातंग वन का दर्शन करेंगे, शबरी को शाश्वत शान्ति प्रदान करेंगे, फिर पम्पा का पावन वैभव देखेंगे और अन्त में सुग्रीव से मैत्री करेंगे। इस क्रम में राम और लक्ष्मण सबसे पहले शबरी के आश्रम में प्रवेश करते हैं।

पम्पा के पश्चिम तट पर मातंग वन की मधुमती शोभा अयोध्या के राजकुमारों के सामने कबन्ध की अशरीरी कल्पना को साकार बना देती है। यहाँ के फूल न मुरझाते हैं और न झड़ते हैं, क्योंकि ये महर्षियों और ऋषिकुमारों की सात्त्विक साधना के फूल हैं। वन की रखवाली अपने गुरुजनों के आदेश पर शबरी बड़ी निष्ठा और श्रद्धा से करती है। अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत पावन वायुमण्डल को देखकर दोनों राजकुमार पुलक उठते हैं। उधर शबरी भी चिर-प्रतीक्षित राम-दर्शन की भावना से आत्मविभोर हो जाती है। पम्पा के किनारे एकान्त टीले पर रंग-बिरंगे फूलों से, पौधों से, पेड़ों से और लताओं से आवृत और अलंकृत पावन आश्रम में राम के पैर रखते ही शबरी का अंग-अंग आनन्द की तरंगिणी बन जाता है और वह आदर-सत्कार से आदरणीय अतिथियों का आत्मीय स्वागत करती है। चिर प्रतीक्षित अतिथियों का आदर-सत्कार करते समय शबरी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एकदम अलौकिक भाव-भूमिका पर पहुँच जाती है। परिणत आत्मा होने के कारण शबरी दोनों राजकुमारों की रमणीय रूप-माधुरी के पीछे छिपी दिव्य भावना को हृदयंगम करती है और उनके चरणों के स्पर्श से अपने पार्थिव शरीर को पावन बना लेती है। कभी वह उनके पैर छूती है, कभी अपलक नयनों से उनका नयन-मनोहर रूप देखती है और कभी उनके पैर धोती है और कभी उनके लिए पीने का पानी ला देती है और कभी कुछ खिलाने का प्रयास करती है। महर्षियों के बसाये हुए मातंग वन से बहुत से फल-फूल कन्द-मूल आदि इकट्ठा कर लाती है और राम-लक्ष्मण को खाने के लिए देती है। आत्मवान् राम शबरी की विनम्रता, शिष्टता और निष्ठा को देखकर प्रसन्न हो जाते हैं और पूछते हैं कि उनकी तपस्या कैसी चल रही है। साध्वी शबरी सहज सात्त्विक भावना के साथ कहती है कि राम के दर्शन से उसकी सारी तपस्या सफल बन गयी है और जीवन का फल मिल गया है। राम बड़ी बारीक़ी से पूछते हैं कि क्या वह (शबरी) क्रोध को काबू में रख पा रही है, आहार, विहार और व्यवहार को नियन्त्रित कर पा रही है और उनके नैष्ठिक जीवन में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं आ रही है ?

पार्थिव संसार से दूर पम्पा के तट पर एकान्त जीवन व्यतीत करने वाली शबरी को राम की ये प्यार भरी बातें अमृत की बूँदों जैसी लगती हैं। वह कहती हैं कि जब राम चित्रकूट पहुँच गये थे तभी से वह उनकी प्रतीक्षा करती रही। मातंग

वन के महर्षियों ने कहा था कि राम इसी रास्ते से जायेंगे और राम के आने तक उनको आश्रम में रहना है। अब वह सुनहरा क्षण आ चुका है जब राम से उनकी भेंट हो गयी। इसलिए वह कहती है कि उसके जीवन का लक्ष्य अब पूरा हो चुका है और राम की आज्ञा लेकर वह परमधाम में पहुँचने के लिए तैयार है। तपोवन से चुन-चुनकर लाये फल वह राम के सामने रखती है और राम एक-एक फल को बड़ी आत्मीयता से खाने लगते हैं और शबरी के भाग्य को सराहते हुए खाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि राम को आराम और आनन्द देने वाली चीज़ फलों की स्वादिष्टता नहीं है, बल्कि शबरी की सात्विक साधना है। इसी दृष्टि से राम आश्रम की हर चीज को देखते-परखते हैं। जैसा कि वाल्मीकि इस प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं, 'राघवः प्राह विज्ञाने' (राम विज्ञान की भूमिका पर विराजमान होकर कहने लगे)। यही विज्ञान की भूमिका आत्मा की विशोका भूमिका है जहाँ लौकिक स्वाद अलौकिक रस का संचार करने लगता है।

शबरी का आतिथ्य स्वीकार करने के बाद राम मातंग वन देखने की इच्छा प्रकट करते हैं जिसके 'नित्य और अबहिष्कृत प्रभाव' के बारे में उन्होंने कबन्ध के मुँह से सुन रखा था। शबरी राम को सारे वन का सौन्दर्य दिखाती है और प्रत्येक स्थान का विस्तृत परिचय देती है। मातंग वन के महर्षि कहाँ स्नान किया करते थे, कहाँ पर अपने कपड़े सुखाया करते थे, कैसे पूजा के लिए फूल-मालाएँ बना लेते थे और उनके जलाये गये दीये कैसे बहुत समय तक जलते रहे, कैसे सात समुद्रों का पानी वहाँ पर संकल्प मात्र से इकट्ठा हो जाता था, आदि कई बातें शबरी राम को बारीक़ी से सुनाने लगती है और राम भी सारी बातें बड़े ध्यान से सुनकर अन्त में कहते हैं—'आश्चर्यम्'। शबरी राम के अन्तरंग को सन्तुष्ट कर उनसे विदा माँगती है। राम कहते हैं, "तुम्हारी तपश्चर्या से मैं बिलकुल सन्तुष्ट हूँ। अब तुम जहाँ जाना चाहती हो, ख़ुशी से जा सकती हो।" राम की यह अनुज्ञा पाकर शबरी जलती हुई आग में कूद पड़ती है और राम के देखते-देखते कैवल्य धाम पहुँच जाती है।

शबरी का यह वृत्तान्त परवर्ती रामकाव्यों में कुछ भिन्न रूप में दिखाई देता है। शबरी के जूठे फल इतने मशहूर हैं कि इस सारे प्रसंग का सार लोग उसी में पाते हैं। लेकिन वाल्मीकि रामायण में शबरी की सात्विकता, आत्मीयता और सत्कारशीलता का खूब वर्णन तो है, पर जूठे फलों का कोई जिक्र नहीं मिलता। हो सकता हैं शबरी ने चख-चखकर जूठे फल ही खिलाये हों, पर इस बात का ख्याल न वाल्मीकि की शबरी को है और न उनके राम को। शबरी और राम का समागम और वार्तालाप एक ऐसी अलौकिक भाव-भूमिका में होता है जिसमें लौकिक स्वाद और सम्मान का कोई महत्त्व नहीं रहता। इस भूमिका को समझने के लिए रामायण की भाव-भूमिका को हृदयंगम करना आवश्यक है।

वाल्मीकि की शवरी जैसे ही राम को फल खिलाती है, पानी पिलाती है और वन की महिमा बताती है, वैसे ही राम के मन में वन देखने की उत्सुकता जाग उठती है जो कि तपस्वियों की तपस्या में पल-पलकर फूला-फला है। इसी महान् वन का वर्णन करते हुए तपस्वी वाल्मीकि 'तद्वन' शब्द का प्रयोग करते हैं। केनोपनिषद् में 'तस्य तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्' वाले मन्त्र में इसी तद्वन का उल्लेख मिलता है। यह ऐसा वन है जिसका जन-जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। इस वन के फूल कभी मुरझा नहीं पाते। इस वन का प्रकाश कभी लुप्त नहीं होता। जो दीया जलाया जाता है, वह कभी नहीं बुझता। यहाँ पर कल्पना मात्र से सारा जीवन एकान्त बिन्दु में समा जाता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जिसमें महर्षियों की महिमा, शवरी की साधना और राम की रमणीयता का सुन्दर समागम होता है। इसी बिन्दु को देखने के लिए आत्मा के अनन्त अभियान में चल पड़े राम शबरी के आश्रम में पहुँचते हैं। यही वह विशुद्धि-चक्र है जिसमें अमृता आदि महती शक्तियाँ निवास करती हैं। पम्पा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ यह आश्रम विशुद्धि-चक्र में बसी हुई उसी परमेश्वरी का अवस्थान है जो शबरी के रूप में यहाँ प्रकट होती है।

अगर शबरी विशुद्धि-चक्र का प्रतिनिधित्व करती है तो कबन्ध नाम का राक्षस अनाहत नाद को मुखरित करता है। मर कर भी न मरने वाला और मरने के बाद ही सत्य का साक्षात्कार करने वाला कबन्ध इसी अनाहत का प्रतीक है। अनाहत नाद में न केवल विशुद्धि-चक्र का विस्तृत वर्णन मिलता है, बल्कि आज्ञा-चक्र का आभास भी पाया जाता है जो कि सुग्रीव के साथ राम की मैत्री और वानर-सेना को सुग्रीव की ओर से मिली आज्ञा के वृत्तान्त में निरूपित होता है। पम्पा सरोवर, शबरी और सुग्रीव के बारे में कबन्ध ही राम को बताते हैं और वह भी पार्थिव शरीर से विमुक्त होने पर। रामायण के कथा-क्रम को इस दृष्टि से देखा जाये तो सारी राम-कथा एक मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद शारीरिक मीमांसा-सी प्रतीत होती है।

विमाता कैकेयी के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर राम का वन-गमन राम के अयन (रामायण) का मूलभूत आधार (मूलाधार) है। पादुका लेकर भरत का अयोध्या लौट जाना और साधना का सम्बल लेकर राम का दण्डक में प्रवेश करना स्वाधिष्ठान (अपने-अपने स्थान पर अधिष्ठित होने) का सूचक है। इसके बाद सीता को अनसूया का प्रीतिदान और राम को अगस्त्य का अस्त्रदान 'मणिपूरक' चक्र का प्रतीक है। कबन्ध का वृत्तान्त अनाहत है तो शबरी का प्रसंग विशुद्धि है। सुग्रीव की आज्ञा में आज्ञा-चक्र है तो सीता के पुनर्मिलन में सहस्रार का संदर्शन है। इस प्रकार मानव-शरीर में प्रतिष्ठित छह चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र—रामायण के छह काण्ड या अव-

स्थान हैं। इस दृष्टि से शबरी का प्रसंग कवन्ध और सुग्रीव के बीच का आवश्यक सन्धान सिद्ध होता है। कवन्ध और सुग्रीव शब्द भी इस धारणा की पुष्टि करते हैं। कबन्ध के सभी अंग कण्ठ से कमर के बीच समाये हुए होते हैं और सुग्रीव के सौन्दर्य का सार उनकी ग्रीवा (कण्ठ) में है। शबरी इन दोनों के बीच की कड़ी है। पवन को स्वर में बदलने वाली पावन नाड़ी ही है यह नारी। तद्वन की रखवाली यही साध्वी प्रणवनाद की साधिका और आराधिका है। तद्वन की चिरन्तन शोभा मानवीय वाणी की मननीयता का प्रतीक है जिसको देखकर राम पुलक उठते हैं।

वास्तव में शबरी की पवित्रता वाणी की शुद्धि या विशुद्धता का ही ज्ञापक है। इसका मूर्त रूप हमें फिर हनुमान् में दिखाई देता है। सुग्रीव का वित्त सचिव हनुमान् वाणी की उसी भव्यता का प्रतिनिधित्व करता है जो मन और वाणी के चरम लक्ष्य तक वाणी के आराधक को पहुँचाने में समर्थ होती है। आगे चलकर सुग्रीव की आज्ञा लेकर जब हनुमान् अपने साथियों के साथ सीता की खोज में चल पड़ते हैं तब रास्ते में एक और भी तपस्विनी दिखाई देती है जिसका नाम है— 'स्वयंप्रभा'। स्वयंप्रभा का भी अपना एक आश्रम और अपना एक अद्भुत वन है। इसलिए शबरी और स्वयंप्रभा में बहुत कुछ साम्य दिखाई देखा है। शबरी विशुद्धि-चक्र की निर्मल साध्वी है तो स्वयंप्रभा आज्ञा-चक्र की अद्भुत तपस्विनी प्रतीत होती है। इस दृष्टि से शबरी हमें स्वयंप्रभा तक आने का रास्ता दिखाती है।

□

स्वयंप्रभा

रामायण के महिला-पात्रों में स्वयंप्रभा का नाम बहुत कम लोग जानते हैं, हालाँकि रामायण की आध्यात्मिक भाव-भूमिका के उन्नयन में इस पात्र का बहुत बड़ा महत्त्व है। किसी साधारण पाठक से यह पूछा जाये कि रामायण के किस प्रसंग में इस पात्र का प्रवेश होता है तो वह शायद ही इसका ठीक-ठीक जवाब दे सके। इसका कारण है कि वाल्मीकि रामायण के बाद के राम-काव्यों में इस प्रसंग को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। कुछ कवियों ने इसका उल्लेख मात्र किया है और कुछ ने इसको बिलकुल ही छोड़ दिया है। दूसरा कारण यह है कि वाल्मीकि ने राम के साथ इस पात्र का सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। एकान्त तपोवन की स्वान्तस्सुख-साधिका आराधिका के रूप में आदिकवि ने स्वयंप्रभा का चित्रण किया है। स्वयंप्रभा का मतलब ही है—अपनी प्रभा या प्रकाश से आलोकित। राम की प्रतीक्षा में अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों को गिनते हुए बैठी अनन्य आराधिका शबरी से स्वयंप्रभा बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनों एकान्त और प्रशान्त वातावरण में संयत जीवन व्यतीत करने वाली आश्रम-वासिनियाँ हैं और दोनों आध्यात्मिक साधना और सिद्धि से सम्पन्न हैं। शबरी का मातंगवन और स्वयंप्रभा की सुनहली गुहा दोनों सामान्य प्राणियों के लिए पहुँच से बाहर हैं। मातंगवन फिर भी बाहर से दिखाई देता है। पर स्वयंप्रभा का तपोवन बाहर से कुछ भी नहीं दिखाई देता। बाहर से वह केवल काजल की कोठरी जैसी रहस्यमयी गुहा है। भीतर जाने पर ही उसका प्रकाश और प्रभाव साधकों को चौंका देता है। इसी अन्तर को दृष्टि में रखकर वाल्मीकि ने शबरी के आश्रम को 'तद्‌वन' कहा और स्वयंप्रभा की गुहा को 'महद्वन' कहा। शबरी से भी अधिक पहुँची हुई, सुलझी हुई और सधी हुई तपस्विनी है—स्वयंप्रभा जिसकी गरिमा, गम्भीरता और घनिष्ठता को समझने के लिए पवनतनय हनुमान् की जैसी पावन भावना आवश्यक है।

स्वयंप्रभा का प्रसंग किष्किन्धा-काण्ड के लगभग अन्तिम प्रकरण में आता

है जब हनुमान्, अंगद, जाम्बवान् आदि महावानर अपने सहयोगियों के साथ सीता की खोज में चल पड़ते हैं और खोजते-खोजते एक विचित्र गुहा में घुस जाते हैं। सीता माता की खोज में ऊँचे-ऊँचे पहाड़,घने-घने जंगल और चित्र-विचित्र गुहाओं में विचरण करने पर वानर समूह को प्यास लगती है। आसपास कहीं पानी का आभास तक नहीं मिलता। इतने में एक गुहा से भीगे पंखों की चिड़ियाँ बाहर निकलती हुई दिखाई देती हैं। इन पक्षियों को देखकर बुद्धिमान् हनुमान् यह अनुमान लगाते हैं कि जहाँ से ये चिड़ियाँ आ रही हैं, उस गुहा में ज़रूर पानी रहा होगा। उनके इशारे पर और उन्हीं के भरोसे सभी वानर बाहर से बिलकुल अन्धकार से भरी दिखाई देने वाली भयानक गुहा में पहुँच जाते हैं। रास्ते में सभी वानर एक दूसरे का सहारा लेते हुए सघन अन्धकार को चीरकर अन्दर पहुँच जाते हैं। बहुत दूर जाने पर अचानक प्रकाश दिखाई देता है। उन्हें लगता है, किसी दैवी-प्रेरणा ने उनको इस रमणीय स्थल तक पहुँचाया है जहाँ सुनहले रंग के पेड़, मीठा ठण्डा पानी और अच्छे-अच्छे फल दिखाई देते हैं। वे सोचने लगते हैं कि इतना सुन्दर वन यहाँ कैसे छिपा पड़ा है और किसने लगाया होगा। इतने में उन्हें एक तेजस्विनी लता की तरह एक तपस्विनी दिखाई देती है। उस तपस्विनी के चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश दिखायी देता है। रास्ते में जितना घना अँधेरा था, यहाँ पर उतना ही उजाला दिखाई पड़ता है। भीतर का वैभव बाहर के आतंक से एकदम भिन्न है। लम्बे-लम्बे पेड़, उन पर लगे सुनहरे रंग के महकने वाले फल-फूल, कमल के फूलों से भरे हुए सरोवर, सुनहरी दीवारों और खिड़कियों से बने-ठने भव्य भवन, भवनों में मणियों से और रत्नों से खचित दिव्य सिंहासन, बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, खाने-पीने की रसीली सामग्री, चन्दन के सौरभ से पुलकित उपवन सब-का-सब देखने पर ऐसा लगने लगा कि मानो यहाँ पर एक दूसरा ही सूर्य प्रकाश का अपूर्व स्रोत बनकर विराजमान हो। सबसे बढ़कर प्रेरणा और विस्मय का आधार स्वयंप्रभा की प्रभा-भास्वर मनोहर मूर्ति है जो वल्कल, जटा आदि धारण करते हुए भी आध्यात्मिक आभा से आप्लावित और तपस्या की दीप्ति से आपूर्ण थी।

स्वयंप्रभा के पास जाकर अपने कुतूहल का समाधान करने की क्षमता, योग्यता और अर्हता केवल हनुमान् में थी। इसीलिए वह आगे बढ़कर तपस्विनी से सविनय प्रश्न करते हैं। परम गम्भीर, पर परम मनोहर साध्वी का ध्यान अपनी ओर आमन्त्रित करने के लिए हनुमान् पहले अपनी और अपने साथियों की स्थिति का निवेदन करते हुए सारी राम-कहानी सुनाते हैं और बताते हैं कि इसी राम-काज के सिलसिले में अपनी प्यास बुझाने के लिए वे इस गुहा में पहुँच गये और अब उनकी प्यास केवल भौतिक नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक बन गयी है। इस रहस्यमयी गुहा के बारे में जानने की उनके मन में सहज जिज्ञासा है। स्वयंप्रभा

संसार भर की करुणा से परिपूर्ण मंजुल स्वर में उनका स्वागत करती हैं और पहले उनको अपनी भौतिक पिपासा (प्यास) को शान्त करने के लिए वहाँ पर उपलब्ध प्रचुर खाद्य सामग्री का यथेष्ट उपयोग करने के लिए कहती है। उसके बाद वह अपने आश्रम की सारी गाथा सुनाती है।

यह सुन्दर उपवन असल में स्वयंप्रभा की सहेली हेमा का था। देवताओं के कुशल और मायावी अभियन्ता मय ने अपनी प्रेयसी हेमा के लिए यह उपवन बनाया था। वर्षों की कठोर तपस्या से विश्वविधाता ब्रह्मा को सन्तुष्ट कर उनकी कृपा से मय ने चित्र-विचित्र वस्तुओं का निर्माण करने की कला सीखी थी। इसी कला-कौशल का जीता-जागता रूप इस सुवर्ण वन में देखा जा सकता है। बरसों तक विश्वकर्मा मय ने इस वन में मनचाहे सुखों का आनन्द पाकर अन्त में हेमा के प्रति प्रेम लालसा प्रकट की। हेमा देवकन्या थी। इसलिए इन्द्र ने मय पर बिगड़कर उसे उस वन से निष्कासित कर दिया। उसके बाद ब्रह्मा ने उस वन की देखभाल का दायित्व हेमा को सौंपा जो सभी ललित कलाओं में निष्णात थी। हेमा के बाद यह भार स्वयंप्रभा ने अपने ऊपर ले लिया और अपनी तपस्या, साधना और निष्ठा के बल पर उपवन को परम रमणीय रूप प्रदान किया।

इसी सुन्दर वन को वाल्मीकि महद्वन, उत्तम वन, कांचन वन, दुर्गम वन आदि विशेषणों से अभिवर्णित करते हैं। बाहर की गुहा को 'श्रीमद्बिल' कहा गया है। इस बिल की सश्रीकता को समझने के लिए 'श्रीमत्' शब्द को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों रूपों में आत्मसात् करना आवश्यक होता है। यह सारा वर्णन हनुमान् जैसा मेधावी ही पूर्ण रूप से हृदयंगम कर सकता है।

स्वयंप्रभा में जितनी आत्मनिर्भरता है, उससे भी अधिक आत्म-संयम है। वह अपने तपोवन का सारा इतिहास जिज्ञासु हनुमान् को बताती है और अतिथियों का यथेष्ट आदर-सत्कार करती है और उसके बाद ही उनके आगमन का कारण पूछती है। उस समय भी वह केवल इतना ही कहती है कि अगर वह कहने लायक हो और कहने में उनको कोई आपत्ति न हो तभी कहें—'यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि तां कथाम्।' इस पर हनुमान् सारी राम-कथा संक्षेप में सुनाते हैं। दशरथनन्दन राम का दण्डक में प्रवेश, सीता का अपहरण, सुग्रीव से राम की मैत्री, सुग्रीव की आज्ञा लेकर वानर सेना का चारों तरफ प्रस्थान, दक्षिण दिशा में अंगद, हनुमान् आदि का अभियान, रास्ते में प्यास लगना, बिल के अन्दर से भींगे पंखवाले पक्षियों को देखकर प्यासी वानर-सेना का बिल में प्रवेश और रमणीय वन के दर्शन से सन्तुष्ट होना, तापसी के आदर-सत्कार से सबका परितोष आदि सभी बातें हनुमान् के मुँह से सुनकर स्वयंप्रभा प्रसन्न हो जाती है। प्राण-संकट से सबको बचानेवाली स्वयंप्रभा के प्रति हनुमान् अपना और अपने साथियों का आभार प्रकट करते हैं, "देवि, आज्ञा दें कि इस के प्रत्यु-

पकार में हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं।" सब कुछ जाननेवाली (सर्वज्ञा) स्वयंप्रभा धर्म-संहिता मंगलमय वाणी में कहती है—"धर्म का आचरण करनेवाली मैं किसी से कोई अपेक्षा नहीं करती हूँ और न कोई मेरे लिए कुछ कर सकते हैं (चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ।)" ये शब्द कहते समय धर्मचारिणी स्वयंप्रभा के चेहरे पर जो प्रभा चमक रही थी और उनकी आँखों में जो अमन्द आनन्द प्रकट हो रहा था, उनको पहचानकर सूक्ष्म बुद्धिवाले हनुमान् तापसी से निवेदन करते हैं—"देवि, हम प्राण-संकट से तो बच गए, पर एक धर्म-संकट में पड़ गये हैं ।आपने जो हमारे प्राणों की रक्षा की है, वैसे हमारे धर्म की भी रक्षा कीजिए। सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार हमें एक मास के अन्दर सीता जी का पता लगाकर वापस पहुँचना है। पर खोजते-खोजते एक मास की अवधि बीत चुकी है। हमें अब किसी भी हालत में जल्दी वापस जाना है और इसके लिए पहले बिल से बाहर पहुँचना ज़रूरी है। बिल के अन्दर तो हम किसी तरह से आ पहुँचे हैं। पर इसके बाहर निकलना हमारे बस की बात नहीं है। इसमें आपकी मदद चाहिए। कृपया हमें बाहर जाने का रास्ता बताएँ।"

हनुमान् इतने बलवान् होते हुए भी इतनी छोटी-सी बात के लिए एक अबला की मदद माँगने में संकोच तो कर रहे थे, लेकिन कोई दूसरा उपाय नहीं था। वह यह भी जान गये कि स्वयंप्रभा कोई साधारण अबला या महिला नहीं है। वह तो सिद्ध साध्वी है और उसका सहारा लिये बिना उन सबका बाहर निकलना सम्भव नहीं है। और फिर उस साध्वी की उदारता का भी उन्हें काफी परिचय मिल चुका था। स्वयंप्रभा भी जानती थी कि जो एक बार बिल के अन्दर पहुँच जाता है, वह किसी भी हालत में सजीव बाहर नहीं निकल सकता। लेकिन राम-कार्य से ये लोग अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने में लगे हुए हैं। इसलिए उनकी सहायता करना वह अपना कर्तव्य समझती है और कहती है कि तुम अपनी उँगलियों से अपनी आँखें बन्द कर लो। सभी लोग हनुमान् समेत, अपनी पतली लम्बी उँगलियों से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। पल भर में सब लोग अपने को बिल से बाहर पाते हैं और सामने खड़ी है—सबको विदा करने के लिए स्वयं-प्रभा। विषम संकट से बचे हुए वानरों को सामने का समुद्र दिखाकर स्वयंप्रभा फिर अपने बिल के भीतर चली जाती है। श्रीदेवी फिर श्रीबिल के अन्दर समा जाती है।

इसी प्रकार स्वयंप्रभा वानर-सेना को और विशेषकर हनुमान् को एक विशिष्ट अनुभूति प्रदान करती है जो सीता जी की खोज में उनकी मदद देती है। स्वयंप्रभा से विदा लेने के बाद समुद्र के किनारे सम्पाति नाम के पक्षी से उनका परिचय होता है। यह पक्षी दूरदर्शन की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण सीता जी के अवस्थान से उनको अवगत कराता है। इस विहंगम दृश्य को

प्राप्त करने के लिए हनुमान् को और उनके साथियों को स्वयंप्रभा की रहस्यमयी गुहा का परिचय पाना आवश्यक हो जाता है। लंका में असुरांगनाओं के बन्धन में बँधी हुई परम साध्वी जानकी का साक्षात्कार करने में ये सारी अनुभूतियाँ सहायक सिद्ध होती हैं और इन घटनाओं में से प्रत्येक का अपना महत्त्व है।

स्वयंप्रभा आज्ञाचक्र की सर्वज्ञ साधिका है। योगशास्त्र के अनुसार आज्ञाचक्र मूलाधार से लेकर छठा चक्र है जो दोनों आँखों के बीच और नासा-दण्ड के ऊपर दोनों भ्रृकुटियों के सन्धि-स्थल पर प्रतिष्ठित होता है। कमर से लेकर कण्ठ तक की सारी काया को शिर और ग्रीवा के साथ समान रखकर दोनों आँखों की दृष्टि को नाक के कोने पर स्थिर बनाने से इस आज्ञाचक्र का दर्शन हो जाता है जहाँ पर शरीर की रुद्रग्रन्थि भी होती है। सबसे पहली ग्रन्थि ब्रह्मग्रन्थि है जो मूला-धार में होती है। दूसरी ग्रन्थि मणिपूर या नाभि के पास होती है और इसी को विष्णुग्रन्थि कहा जाता है। इन दोनों को पार करने के बाद ललाट के तट पर रुद्रग्रन्थि पायी जाती है। इसे पार करने के बाद सहस्रार चक्र में परमात्मा का साक्षात्कार होता है। स्वयंप्रभा इसी रुद्रग्रन्थि और आज्ञाचक्र की प्रतीक है जिसे पार करने पर द्रष्टव्य का दर्शन होता है। इसके पहले मन्थरा और कैकेयी का गठबन्धन मूलाधार और ब्रह्मग्रन्थि के रूप में मौजूद था और अनसूया का प्रीतिदान मणिपूरचक्र और विष्णुग्रन्थि के प्रतीक के रूप में प्रकट हुआ था। अब स्वयंप्रभा का प्रकाश-दान अन्तिम ग्रन्थि (रुद्रग्रन्थि) और आज्ञाचक्र का प्रतिनिधित्व करता है।

स्वयंप्रभा के बिल का रहस्य इस धारणा को बल देता है। अन्धकार से भरी गुहा के अन्दर प्रकाश पुंज का विराजमान होना ध्यानमग्न अवस्था में ललाट के भीतर विराट् विश्व का दर्शन होने की बात को सूचित करता है। जब हम आँखें बन्द कर लेते हैं और इष्ट देव या आत्म-सौन्दर्य के ध्यान में तल्लीन हो जाते हैं तब बाहर की दुनिया से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। आन्तरिक जगत् का अनन्त प्रकाश एकदम हमें चकित कर देता है। पर एक बार समाधिस्थ होने के बाद फिर प्रकृतिस्थ होने में भी कठिनाई होती है। इसके लिए उसी प्रभु या प्रभा का सहारा जरूरी हो जाता है जो हमें इस रहस्यात्मक जगत् के अन्दर जबरदस्ती खींच लेता है।

स्वयंप्रभा कहती है कि अगर तुम बिल से बाहर पहुँचना चाहते हो तो अपनी आँखें बन्द कर लो। आँखें बन्द करने पर ही समाधि का लगना या खुलना सम्भव हो जाता है। पार्थिव नेत्रों को बन्द करने से अपार्थिव जगत् का फाटक खुल जाता है और अपार्थिव नेत्रों को बन्द करने से पार्थिव जगत् का रास्ता खुल जाता है। इसी रहस्य की ओर केनोपनिषद् में संकेत मिलता है—

'यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा, इतीन्यमीमिषदा'

(बिजली की तरह वह छवि पल भर में प्रकाश से भर जाती है और पल भर में फिर ओझल हो जाती है।)

यह वही आभा है जो शरीर को अशरीर से, काल को अकाल से, ससीम को असीम से और द्रष्टा को दृष्टि से मिलाती है। इसी आभा का आभास स्वयंप्रभा में मिलता है जिसके सहारे अशोकवाटिका में विराजमान श्रीमाता सीता का दर्शन सम्भव हो सका है।

इसी प्रकार स्वयंप्रभा का प्रसंग न केवल एक रोचक घटना है, बल्कि रामायण के आध्यात्मिक धरातल का एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है। कहानी की दृष्टि से यह मनोरंजक कहानी है। कविता की दृष्टि से यह कमनीय कल्पना है। आध्यात्मिक दृष्टि से विश्वात्मा के विराट् सौन्दर्य का साक्षात्कार करने में सहायक अद्भुत साधना-पाठ है और साथ ही सिद्ध-पाठ भी है।

वेद को काव्य का रूप देने में कृतसंकल्प आदिकवि वाल्मीकि ने स्वयंप्रभा के माध्यम से अलौकिक योगसाधना को मनोहर कथा का रूप दिया है। लेकिन बहुत कम परवर्ती राम-काव्यों ने इस प्रकार के प्रासंगिक इतिवृत्तों की गहराई पहचानी है। इसीलिए रामायण को केवल एक कहानी के रूप में नहीं देखना चाहिए। वह परम रमणीय प्राण राम का अयन या अभियान है जिसके क़दम-क़दम पर आत्मा की अनन्त सुषमा का दर्शन होता है। रामलीला आत्मा की आनन्दमयी गाथा है। स्वयंप्रभा इस गाथा की महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है।

□

तारा

भारतीय पौराणिक वाङ्मय में पाँच महाकन्याओं में तारा की भी गणना की जाती है। विश्वास किया जाता है कि सवेरे उठकर इनका नाम लेने मात्र से व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है। लेकिन तारा के नाम से दो महिलाएँ प्रसिद्ध हैं। एक तो देवताओं के राजपुरोहित बृहस्पति की पत्नी तारा और दूसरी वानर राजा वाली की पत्नी तारा। इसलिए इन दोनों में से किस तारा की गणना पाँच महाकन्याओं में की गयी है, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग दोनों को शामिल करना उचित समझते हैं। जो भी हो, दोनों में बहुत कुछ साम्य है। बृहस्पति की पत्नी तारा का सम्बन्ध अपने पति के अलावा चन्द्रमा से भी बताया जाता है जबकि इस तारा का पारिवारिक सम्बन्ध पहले वाली के साथ और बाद में वाली के छोटे भाई सुग्रीव के साथ प्रतिष्ठित है। इससे सामान्य व्यक्ति को इनकी पवित्रता स्वीकार करने में कठिनाई होती है और बात बहुत उलझ जाती है। इस उलझन या रहस्य को समझने के लिए इन दोनों महिलाओं के चरित्र को बड़ी गहराई के साथ परखना पड़ता है। बृहस्पति की पत्नी तारा की आराध्यता को हृदयंगम करना बहुत कठिन नहीं है क्योंकि वह ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित एक खगोलीय ज्योतिर्मयी सत्ता है जिसको मानव-जीवन के नैतिक मापदण्ड से देखना-परखना समीचीन नहीं है। लेकिन रामायण की तारा की महत्ता को समझने के लिए आदिकवि की आर्ष दृष्टि को बड़ी सावधानी और बारीक़ी से समझने की आवश्यकता है। कथा को केवल कथा के रूप में स्वीकार करने से कथ्य का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। तारा की हर बात को और तारा के सम्बन्ध में वाल्मीकि के द्वारा प्रयुक्त हर शब्द को प्रसंग और पर्यावरण के आधार पर परख-परखकर देखने पर ही बात समझ में आ सकती है।

वाल्मीकि रामायण में पहली बार तारा का प्रवेश उस समय होता है जब वह अपने पति वाली को बार-बार यह समझाने-बुझाने की कोशिश करती है कि

वह अपने छोटे भाई सुग्रीव के साथ अनावश्यक युद्ध न करें और अगर करना ही है तो सोच-समझकर कुछ समय बाद में करें। इस प्रसंग में यह अपने पति को 'साधु' कहकर सम्बोधित करती है। यह देखकर वह कुछ घबरायी हुई-सी लगती है कि एक बार अपने बड़े भाई के साथ बुरी तरह से हारकर सुग्रीव फिर नये उत्साह और विश्वास के साथ क्यों लड़ने आ रहा है। उसको इसमें कुछ छल-कपट और अनिष्ट की आशंका होती है। इसीलिए वह वाली को लड़ने के लिए जाने देना नहीं चाहती थी। लेकिन वह वाली की हठीली प्रकृति से भली-भाँति परिचित थी और वह जानती थी कि उसके अभिमानी पति उसकी सलाह मानने वाले नहीं। इसलिए वह अपनी बात बड़ी विनम्रता और अनुनय-विनय के साथ आगे बढ़ाने की कोशिश करती है। प्रारम्भ में अपने पति को 'साधु' कहकर सम्बोधित करने में उसका आशय केवल उनको किसी तरह से मनवाना ही नहीं, बल्कि उनको इस बात से सतर्क करना भी है कि वह दिल के बहुत भोले हैं और सुग्रीव के साथ राम और लक्ष्मण के गुप्त संगठन का वह अनुमान नहीं लगा सकते। तारा को मालूम है कि उसके पति इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि सुग्रीव जैसा सीधा-सादा भाई राम और लक्ष्मण जैसे धर्मपरायण राजकुमारों के साथ मिलकर कुछ ऐसा कुतन्त्र रच सकता है, जो उनके लिए घातक सिद्ध हो जाये। इस बात की ओर मन्द किन्तु मार्मिक संकेत करते हुए तारा कहती है कि स्वभाव से कुशल और सतर्क सुग्रीव किसी पर्याप्त सहायता या आश्वासन का भरोसा लिये बिना दुबारा अपने पराक्रमी भाई के साथ लड़ने का साहस नहीं बटोर पाता और यह सहारा अयोध्या से आये राजकुमार राम और लक्ष्मण का ही हो सकता है। 'साधु' कहकर सम्बोधित करने में वह अपने पति को इस बात की हल्की चेतावनी देना चाहती है कि युद्ध के मामले में सीधा-सादा या भोला-भाला रहना ठीक नहीं है और इसका परिणाम ख़तरनाक हो सकता है। 'साधु' शब्द में तारा की पति-भक्ति, पति की सुरक्षा के लिए उसकी व्यग्रता, चारों तरफ़ की गतिविधियों की पूरी-पूरी जानकारी और सबसे बढ़कर उसकी दूरदर्शिता का परिचय मिल जाता है। इस प्रकार तारा का पूरा व्यक्तित्व इस छोटे से 'साधु' में समाविष्ट हो जाता है।

'साधु' शब्द की सार्थकता उस समय और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब तारा की मन्त्रणा इसी शब्द के साथ समाप्त होती है। तारा का सारा वार्तालाप 'साधु' शब्द के सम्बोधन के बीच में सम्पन्न हो जाता है। वास्तव में तारा के परामर्श में मन की बात को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने का एक सुनियोजित क्रम दिखाई देता है। पहले वह लड़ने की बात को थोड़े समय के लिए रुकवाना चाहती है और अन्त में यह सुझाव देती है कि वह अपने प्यारे भाई सुग्रीव के साथ लड़ने का विचार हमेशा के लिए छोड़ दें और उसे राज्य का

उचित भाग देकर राम और लक्ष्मण से मैत्री कर लें। वह अपनी बात आगे बढ़ाते समय तीन प्रमुख बातों पर बराबर ध्यान देती है—अपने पति का आत्माभिमान, सुग्रीव का न्यायोचित सम्मान और राम-लक्ष्मण की धर्म-परायणता और दिव्य शक्ति-सम्पन्नता। इन तीनों बातों की ओर वह अपने पति का ध्यान धीरे-धीरे आकृष्ट करने का प्रयास करती है जो क्षणिक आवेग में अपना सन्तुलन खो रहे हैं। वह अत्यन्त विनम्रता से अनुनय-विनय के स्वर में बहुत समझाने की कोशिश करती है। लेकिन निष्ठुर नियति की अदम्य प्रेरणा से वाली अपनी बात पर अड़े रहते हैं, हालाँकि वह तारा के सत्परामर्श की सराहना करते हैं और उसकी पति-भक्ति का आभार भी मानते हैं। अपने पति के पक्के संकल्प को देखकर तारा और ज़िद करना नहीं चाहती और सच्ची साध्वी के रूप में अपने पति की दीर्घायु और विजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना करती है। इसी प्रसंग में वाल्मीकि उसे प्रियवादिनी और दक्षिणा (अनुकूल) की संज्ञा देते हैं। होने वाले अनिष्ट की आशंका से त्रस्त होते हुए भी वह परिस्थिति से समझौता कर लेती है और शोकाकुल होकर अपने निवास में चली जाती है। जाने के पहले वह अपने पति की परिक्रमा कर उनसे विदा लेती है और अन्तःपुर में जाकर आतुर घड़ियाँ गिनने लगती है। तारा का यह पहला परिचय उसे शालीन, सन्तुलित, प्रशान्त और पतिपरायणा साध्वी के रूप में चित्रित करता है। तारा सचमुच तारा बनकर हमारे सामने आती है जिसके प्रकाश का एकमात्र लक्ष्य लोक को आलोकित करना है।

इसके बाद फिर तारा हमारे सामने तभी आती है जब वाली का आतंकित अन्त समीप आता है और तारा शोकमूढ होकर अपने पति की म्रियमाण काया पर जा गिरती है। पति की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर वह स्तम्भित हो जाती है और अपने पति को अवसान दशा में देखकर अश्रुतर्पण से अपने मन को शान्त करने के लिए वह युद्ध-भूमि की ओर दौड़ चलती है। महावानर वाली को धरती पर लेटे हुए देखकर सारी वानर-सेना त्रस्त हो उठती है और रामचन्द्र की रणवीर मुखमुद्रा सबको भयभीत बना देती है। इस आतंक से घबराकर सभी वानर तितर-बितर हो जाते हैं और तारा को भी सतर्क कर देते हैं कि इस समय वहाँ जाना खतरे से खाली नहीं है। लेकिन वीरांगना तारा बिलकुल नहीं घबराती है और सीधे पति के पैर छूने की आतुरता में रणभूमि पहुँच जाती है। जैसी सूचना थी, वैसे ही, वह अपने पति के मृतप्राय कलेवर के पास राम, लक्ष्मण और सुग्रीव को देखकर हतप्रभ हो जाती है। इतना बड़ा वीर राम के एक बाण से कैसे आहत होकर बेहोश धरती पर पड़ा हुआ है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। वह राम, लक्ष्मण और सुग्रीव की परवाह किये बिना सीधे अपने पति के पास पहुँचती है और उनके पैर छूकर उनसे गले मिलने की कोशिश करती है। उनके वक्ष-

स्थल पर लगा हुआ तीर पति-पत्नी के अन्तिम परिरम्भ में बाधा पहुँचाता है। दुनिया भर का साहस बटोर कर लड़ने वाला वीर योद्धा पल भर में कैसे मिट्टी में मिल गया, यह विचार बार-बार उसे पीड़ा देता है और विशेष कर तब, जब उसे इस बात की याद आती है कि बार-बार उसके मना करने पर भी काल से प्रेरित वाली ने उसकी बात नहीं मानी।

दिल दहलाने वाले इस दारुण दुःख की घड़ियों में भी वह अपने मन का सन्तुलन नहीं खोती है। वह राम को बिलकुल नहीं दोष देती है क्योंकि अयोध्या के राजकुमार और सुग्रीव का मित्र होने के नाते उन्होंने अपने कर्तव्य का ही पालन किया है और सुग्रीव को राज्य और राज्ञी से वंचित करने वाले दोषी वाली को न्यायपूर्ण दण्ड दिया है। वह केवल अपने पति की दयनीय दशा को देखकर पछताती है कि उन्होंने हित की बात नहीं मानी और अपने अन्त के आप कारण बन गये।

फिर भी वह अपने पति का समुचित आदर-सत्कार करती है, भले ही उसका आचरण अनैतिक और अनियत क्यों न रहा हो। यह सन्तुलित मनस्थिति उनको परम साध्वी का पद प्रदान करती है। वह अपने पति के पादाभिवन्दन और उसके गले में घुल-मिल जाने के ऐकान्तिक सुख के सामने बहुत बड़े साम्राज्य की पटरानी बनने और अंगद जैसे सौ पुत्रों की राजमाता बनने के सुख को भी न-तुल्य समझती है। संसार के समस्त सुख-वैभव को छोड़कर वह अपने पति के साथ परलोक जाना चाहती है, क्योंकि परलोक में भी उसके पति को उसके बिना सुख नहीं मिलेगा। पति के साथ परलोक जाने के उसके निर्णय को बदलने का प्रयास वीर हनुमान् और राजकुमार रामचन्द्र अपनी शीतल शान्त पदावली के माध्यम से करते हैं।

हनुमान् आसमान से टूट पड़े सितारे की तरह दीन और अवसाद भरी मुद्रा में पति की मरण शय्या पर पड़ी हुई तारा को धीरज दिलाते हुए कहते हैं—"तुम साधारण नारी नहीं हो। सब कुछ समझने वाली साध्वी और विदुषी नारी को इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए। जो हो गया सो हो गया। अब उसके बारे में सोचने से कोई फ़ायदा नहीं है।आगे की बात सोचनी चाहिए। सुग्रीव का सौजन्य और अंगद का पराक्रम वाली की बात भुला देने में मदद दे सकता है। जो कुछ होना होता है, वह होकर ही रहता है। उससे समझौता करना पड़ेगा। समय सबको संयम का पाठ पढ़ाता है। काल का निर्णय सबके लिए बाध्यकर होता है।" लेकिन तारा के कान बहरे बन जाते हैं। राज्य-सुख, पुत्रोन्नति आदि को अपने पति के बदले स्वीकार करने में वह अपनी असमर्थता प्रकट करती है।

यह सब सुनकर मृत्युशय्या पर अन्तिम घड़ियाँ गिनने वाले वाली का दिल पिघल जाता है। वह सुग्रीव को अपने पास बुलाकर तारा के अन्तरंग की तारीफ़

करते हैं और कहते हैं कि हमेशा तारा की बात मानकर चलने में सबका श्रेय है। सुषेण की बेटी तारा बड़ी पैनी दृष्टि से बात परखती है और आगे होने वाली बात का सही अन्दाज़ा लगाती है। इसलिए उसका विचार कभी ग़लत नहीं हो सकता। पति की प्रशंसा भरी ये बातें तारा को और शोकाकुल बना देती हैं। वह अपने पति को छोड़कर दुनिया में और कुछ नहीं चाहती। पेड़ से जैसे लता लिपटी रहती है, वैसे वह अपने पति से अन्तिम क्षणों तक लिपटी रहती है। अंगद को कुछ अन्तिम सन्देश देने के लिए वह अपने पति से अनुरोध करती है। आखिर वह अपने पति को दुनिया से विदा होते हुए देखकर दिशामूढ और हतप्रभ हो जाती है। उसे आश्चर्य होता है कि इतना दारुण दुःख सहते हुए भी उसका हृदय क्यों नहीं फट गया।

वीरांगना तारा का यह शोकाकुल विलाप सुनकर सुग्रीव का दिल भी पिघल जाता है। वह राम से अपने भाई के साथ चिता में प्रवेश कर अपने प्राण समर्पित करने की अनुमति माँगते हैं। राम अपनी सहज गम्भीरता के साथ परिस्थितियों का पट-परिवर्तन देखते हैं और तारा की तरफ़ चल पड़ते हैं। राम को अपनी ओर आते देखकर तारा मन-ही-मन पुलक उठती है। रामचन्द्र का मुखमण्डल देखते ही तारा के मुँह से प्रशंसा और स्तुति के शब्द फूट पड़ते हैं। अप्रमेय, दुरासद, जितेन्द्रिय, उत्तम धार्मिक आदि गिने-चुने शब्दों से वह राम का गुणगान करती है। जब कभी राम किसी से मिलते हैं तो पहले वही बोलते हैं। उनके इसी लक्षण को लेकर उन्हें 'पूर्वभाषी' कहा जाता है। पर इस प्रसंग में तारा ही पहले बोलती है। अपने उद्‌गारों को आगे बढ़ाते हुए वह कहती है—"आप सत्य और धर्म के सही पारखी हैं। आप की प्रतिष्ठा पर कभी कोई आँच नहीं आ सकती। माँ धरती की तरह आप सबको माफ़ करते हैं और सब कुछ सहते हैं। बिजली की तरह चमकने वाली आपकी आँखों की ज्योति आपके पार्थिव शरीर के भीतर छिपी हुई आपकी दिव्यता को प्रकट कर देती है। मेरी आप से केवल यही विनती है कि जिस तीर से आपने मेरे पति के प्राण हर लिये, उसी तीर से मुझे उनसे मिला दें ताकि परलोक में भी हमारा संग न छूटे।" राम तारा की सारी बातें बड़ी धीरता के साथ सुनते हैं और समवेदना और सराहना के स्वर में अपना सारगर्भित सन्देश देते हुए कहते हैं—"मा वीरभार्ये, विमतिं कुरुष्व—तुम तो वीर की पत्नी हो, अपने मन को इस प्रकार विपरीत दिशा में जाने नहीं देना चाहिए। जो कुछ दैव ने किया है, उसके साथ समझौता कर लेना चाहिए। तुम को परम सन्तोष का लाभ होगा। चिन्ता मत करो।" इन बातों से तारा को अपार धीरता, सान्त्वना और चेतना मिलती है। वह मन्त्रमुग्ध और मौन बन जाती है।

अब तक वाली का पथप्रदर्शन करने वाली तारा अब सुग्रीव की शुभकामिनी

बन जाती है। सुग्रीव को खोए हुए राज्य के साथ खोयी पत्नी रूमा भी वापस मिल जाती है। अधिक कष्ट सहने के बाद अधिक सुख की प्राप्ति में अकसर आलस्य और प्रमाद की आशंका होती है। सुग्रीव को इसी अनिष्ट से बचाने के लिए तारा हमेशा तत्पर और सतर्क रहती है। राम के दर्शन और भाषण से तारा के जीवन में एक नयी धारा प्रवेश करती है और यही जीवन-धारा उसे आध्यात्मिक और अपार्थिव धरातल पर ले जाती है। 'विशुद्ध सत्त्व' राम की वाणी इस 'मनस्विनी' को 'अदीन सत्वा' बना देती है। तारा का यह उदार रूप उस समय हमारे सामने उभर आता है जब वह इन्द्रियसुख में लीन सुग्रीव को राम का उग्र सन्देश सुनाते हुए क्रोधी लक्ष्मण को शान्त करने का संयत प्रयास करती है।

सुग्रीव राम को वचन देते हैं कि बरसात के चार महीने बाद वह सारी वानर सेना को सीता जी की खोज में भेजेंगे। लेकिन चार महीने बीत जाने के बाद भी सुग्रीव के यहाँ से राम को कोई समाचार नहीं मिलता। इस बीच में हनुमान् के अनुरोध और प्रयास से सारी वानर सेना इकट्ठी की जा रही थी। लेकिन इस बात की कोई सूचना राम के पास नहीं थी। इसलिए वह अपने भाई लक्ष्मण को सुग्रीव के यहाँ इस सन्देश के साथ भेजते हैं कि अगर सुग्रीव अपने सुख में मस्त रहकर राम को दिये गये वचन को पूरा नहीं करते हैं तो वाली के प्राण हरने वाले तीर की तीव्रता सुग्रीव को भी सबक सिखा सकती है। इस मार्मिक सन्देश को लेकर जब लक्ष्मण सुग्रीव के द्वार पर पहुँचते हैं और धनुष की भीषण टंकार से भोग-विलास में निमग्न सुग्रीव को ग्राम्य सुख की निद्रा से जगाने लगते हैं, तब सुग्रीव के पाँव लड़खड़ा जाते हैं और उनकी आवाज़ गड़बड़ा जाती है। इस दशा में वह मनस्विनी तारा से अनुरोध करते हैं कि जाकर पहले लक्ष्मण को शान्त करें और बाद में वह बात करेंगे। यह बड़ी ही नाज़ुक स्थिति थी और इस महान् दायित्व को तारा तुरन्त और सहर्ष स्वीकार करती है।

चार महीने में तारा का रूप इतना निखर उठता है और उसके मुखमण्डल में ऐसी दिव्य आभा का समावेश होता है कि लक्ष्मण का सारा क्रोध तारा को देखते ही शान्त हो जाता है। अब वह न वाली की पत्नी है और न सुग्रीव की। वाल्मीकि के शब्दों में वह 'हरीश-पत्नी' है। हरि की पत्नी लक्ष्मी, और ईश की पत्नी गौरी, दोनों के लक्षण उसके मुखमण्डल में लक्ष्मण को दिखाई देते हैं।

यहाँ भी तारा ही पहले बोलती है। बड़ी प्रसन्न और प्रशान्त मुद्रा में वह लक्ष्मण से पूछती है, "आप क्यों इतने नाराज़ हो गये? आपको किसी ने नाराज तो नहीं किया है और न किसी ने आप की आज्ञा का उल्लंघन किया है!" जंगल में रहते हुए आग से कौन खेल सकता है। इस पर लक्ष्मण सुग्रीव की प्रमत्तता की ओर संकेत करते हैं। तारा बड़ी विनम्रता से कहती है, "यह सच है, सुग्रीव कुछ

आलसी बन गये हैं। पर वह अपने कर्तव्य से भलीभाँति परिचित हैं। सीता की खोज के लिए वानरसेना इकट्ठी की जा रही है। नये राज्य के सुख में मस्त होकर सुस्ताना कुछ स्वाभाविक है। पर वासना का जवाब क्रोध नहीं है। सुग्रीव राम के बहुत बड़े आभारी हैं और राम की आज्ञा उनके लिए सर आँखों पर है। राम की भलाई के लिए वह अपने राज्य को ही नहीं, बल्कि रुमा और तारा को भी छोड़ सकते हैं। इन बातों से लक्ष्मण को शान्त कराकर तारा उन्हें भीतर ले जाती है। अन्दर सुन्दर नारियों के बीच में सुन्दरतर सुग्रीव सुख-सन्तोष और हर्ष-उल्लास के वातावरण में रहता है, पर विशालनेत्र लक्ष्मण को देखते ही उसके नेत्र भी विशाल बन जाते हैं। लक्ष्मण की मुखमुद्रा में क्रोध की ज्वाला देखकर सुग्रीव विचलित हो जाते हैं और अपना आसन छोड़कर लक्ष्मण का स्वागत करते हैं।

जब लक्ष्मण अपने भाई राम का सन्देश बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा में सुग्रीव को सुनाते हैं तब तारा समझ पाती है कि लक्ष्मण अभी पूर्ण रूप से शान्त नहीं हुए। सुग्रीव को देखकर फिर से क्षुब्ध लक्ष्मण को और अच्छी तरह समझाने के लिए तारा आगे बढ़ती है और कहती है—"सुग्रीव, जैसे आप समझ रहे हैं, वैसे नहीं हैं। वस्तुस्थिति को समझे बिना उनको कृतघ्न, द्रोही, निष्ठुर, असत्य या कुटिल मानना ठीक नहीं है। विश्वामित्र जैसे महान् ब्रह्मवेत्ता भी मेनका के शिकार बन गये। सुग्रीव तो साधारण वानर राजा हैं। यह सुख-लालसा क्षण-भंगुर है। इसके अलावा अपने कर्तव्य की उपेक्षा करके वह पारिवारिक सुख में मग्न नहीं हो रहे हैं। और सबसे मुख्य बात यह है कि सुमित्रा जैसी साध्वी के पुत्र लक्ष्मण को इस प्रकार क्रोध का शिकार नहीं बनना चाहिए। छोटे लोगों की ग़लती माफ़ करने में ही बड़े लोगों का बड़प्पन है।"

तारा यहीं पर नहीं रुकती। आगे वह अपनी नयज्ञता और राजनीतिज्ञता का परिचय देते हुए कहती है कि रावण-जैसे भीषण शत्रु का सामना करने के पहले सारी साज-सज्जा पूरी कर लेना ज़रूरी है। रावण के बारे में मैंने वाली से बहुत-सी बातें सुनी हैं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए सुग्रीव सारी तैयारी कर रहे हैं। एक-एक करके इन सब बातों को सुनने के बाद लक्ष्मण को पूरा विश्वास हो जाता है कि सुग्रीव के उद्देश्य अच्छे हैं और वह राम-कार्य में लगे हुए हैं। तारा की इस भूमिका के बाद लक्ष्मण सुग्रीव को लेकर राम के पास पहुँच जाते हैं।

लक्ष्मण के साथ तारा का यह संवाद उसकी राजनयज्ञता, वाग्विदग्धता, कार्य-कुशलता और सात्विक विनम्रता का परिचायक है। उसकी लावण्यमयी मुखमुद्रा में उसका शारीरिक सौन्दर्य, सन्तुलित वार्तालाप और मनोवैज्ञानिक व्यवहार में उसकी मानसिक मनोहारिता और राम के प्रति उसकी हार्दिक भक्ति-

भावना में उसकी आध्यात्मिक गरिमा का प्रमाण मिल जाता है। तारा की हर चर्या में सतर्कता ही नहीं, बल्कि सत्वरता भी दृष्टिगोचर होती है। तारा जब लक्ष्मण को सुग्रीव के पास अन्दर ले जाती है, उस चर्या की गतिशीलता का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं—"तारया चाभ्यनुज्ञातो त्वरया चापि चोदितः"—तारा के साथ चलने वाले लक्ष्मण ऐसे प्रतीत होते थे जैसे वह तारा के द्वारा नहीं, बल्कि त्वरा नाम की नारी से जल्दी-जल्दी ले जाये जा रहे थे। इस पंक्ति को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि तारा का दूसरा नाम ही त्वरा है। लक्ष्मण और सुग्रीव के बीच में सन्धान स्थापित करने वाली यह तारा कथासूत्र की विभिन्न विन्दुओं को मिलाने वाले तार की भाँति भी दिखाई देती है।

'तारा' शब्द का मौलिक अर्थ ही सन्धान है। पृथ्वी और आकाश को मिलाने वाले नक्षत्र को तारा कहा जाता है। यहाँ पर नर और वानर को मिलाने वाली नारी को तारा की संज्ञा दी गयी है। यही नहीं, सुग्रीव के नये विलासमय जीवन में वह वासना और उपासना के बीच में भी सन्धि-सूत्र स्थापित करती है। रुमा सुग्रीव का मन बहलाने वाली सुषमा का प्रतीक है तो तारा सुग्रीव को राम-कार्य में प्रेरित करने वाली हृदयतन्त्री है। तारा को अक्सर वाल्मीकि 'ताराधिप निभानना' (ताराओं के राजा चन्द्रमा जैसी मुखवाली) कहते हैं। इस विशेषण में केवल तारा का भौतिक सौन्दर्य ही नहीं, बल्कि उसका मानसिक और आध्यात्मिक महत्त्व भी व्यंजित होता है।

वाली और सुग्रीव के बीच में भी तारा सन्धान का काम करती है। वास्तव में वाल और ग्रीवा शरीर के दो प्रधान अंग हैं जो क्रमशः वानर और नर के प्रतीक हैं। वाल या पूँछ वानर का प्रधान लक्षण है जब कि ग्रीवा से निकलने वाली वाणी मनुष्य का मुख्य लक्षण है। यही वाली-सुग्रीव के बीच का सम्बन्ध है। वाली इन्द्र का पुत्र है और सुग्रीव सूर्य का। वाल मूलाधार या शक्तिकूट का प्रतीक है जब कि ग्रीवा विशुद्धिचक्र या वाग्भवकूट का द्योतक है। इस दृष्टि से वाली का संहार और सुग्रीव का उद्धार वासना के त्याग और उपासना के स्वीकार का प्रतीक है। इसमें तारा की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मूलाधार में वासना जितनी बलवती हो जाती है, वाणी उतनी ही हीन बन जाती है। वासना के समाप्त होने पर ही उपासक की वाणी उपास्य के काम आ सकती है। इसी साधना में तारा लगी रहती है और हीनग्रीव सुग्रीव को विपुलग्रीव बनाने में ही उसकी साधना की सार्थकता है। मूलाधार की कामवासना को विशुद्धि-चक्र की वाग्विभूति में परिवर्तित करने वाली चित्-शक्ति के रूप में भी तारा की भूमिका प्रस्तुत की जा सकती है। वाली की काम-वासना का संहार कर सुग्रीव की पद-प्रतिष्ठा को बनाए रखने का काम राम ने किया है और इस काम के सम्पन्न होने

के बाद तारा वाली और सुग्रीव की सम्मिलित कल्याण-भावना को आगे बढ़ाने में सहायक होती है। रुमा तो लावण्य की राशि है और तारा उस लावण्य में कल्याण को भर देती है। यही तारा का आध्यात्मिक पक्ष है जिसके बिना उसका लौकिक और मानसिक महत्त्व सार्थक नहीं होता। इसी तारा को राम परम सुख की प्राप्ति का आश्वासन देते हैं।

□

मन्दोदरी

तारा और मन्दोदरी में बहुत कुछ समानता है। दोनों की गणना प्रातःस्मरणीय पाँच महाकन्याओं में होती है। दोनों उच्च पारिवारिक परिवेश में जन्मी वीरांगनाएँ हैं। पर वैवाहिक जीवन दोनों का समस्यात्मक और साधनामूलक होता है। साध्वी की सात्विकता से ओतप्रोत व्यक्तित्व होते हुए भी दोनों अपने जीवन-साथी की पाशविक कामवासना की पंकिल भावना से आतंकित होती हैं, पर लाचार होकर जीवन से समझौता कर लेती हैं। दाम्पत्य जीवन के दावानल में तप-तपकर उनका जीवन इतना चमक उठता है कि पतिप्राणहारी प्रतिद्वन्द्वी भी उनकी पतिपरायणता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके। इस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी प्रतिष्ठा की परवाह किये बिना अपना कर्तव्य निबाहने में तारा की अपेक्षा मन्दोदरी अधिक खरी उतरती है। तारा का जीवन भी कठोर परीक्षा में से गुज़रते हुए घोर विपत्ति का शिकार बन जाता है। पर करुणालय राम उसे परम सौभाग्य का वर प्रदान करते हैं जबकि मन्दोदरी इस प्रकार की अनुकम्पा की अपेक्षा तक नहीं करती है। वह सच्चे अर्थों में पतिप्राणा वीरपत्नी है और पति के साथ चिता में अपने प्राण समर्पित करती है। तारा में कहीं-कहीं कुछ अलौकिक और आकाशचारी विचारधारा का आभास मिलता है जबकि मन्दोदरी महीतल की महनीयता की मौन आराधिका के रूप में धरती की सारी वेदना को अपने मन्द उदर के अन्दर समाये रहती है।

पर कन्या के रूप में मन्दोदरी का जीवन अधिक आकर्षक और अलौकिक प्रतीत होता है। विश्वकर्मा मय को उपहार के रूप में प्राप्त हेमा नाम की अप्सरा की वह लाडली बेटी है। हेमा अपने प्रेमी मय के साथ पूरे हज़ार वर्ष आनन्दमय जीवन व्यतीत करती है और मन्दोदरी के अलावा मायावी और दुन्दुभी नाम के दो पुत्रों को भी जन्म देती है। यह वही दुन्दुभी है जिसने वाली के साथ साल भर लड़ते रहने का साहस किया था हालाँकि उसी संघर्ष में उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे। मन्दोदरी को माता की अपेक्षा पिता का वात्सल्य अधिक मिलता

है। हेमा जब स्वर्ग की पुकार सुनकर मन्दोदरी और मय को छोड़कर चली जाती है तब मय के लालन-पालन में ही मन्दोदरी विवाह योग्य सुन्दरी बन जाती है। वह अपने पिता के साथ चौदह साल तक एक सुनहली कुटी में रहती है जिसे उसके पिता ने अपनी पत्नी के लिए बनवाया था। स्वर्णकुटी में वह अकेली रह रहकर ऊब जाती है और अपने पिता के साथ बाहर घूमने जाती है। इस सैर के दौरान उनको एक एकान्त वन दिखाई देता है जहाँ पर न तो कोई मनुष्य दिखाई देता है और न कोई जानवर। पर अचानक रावण नाम के शूरवीर साहसिक युवक से उनकी भेंट होती है। प्रारम्भिक वार्तालाप के पश्चात् लंकेश्वर रावण के साथ मयतनया मन्दोदरी का विवाह करने का निर्णय किया जाता है और तत्काल पाणिग्रहण का संस्कार भी सम्पन्न हो जाता है। रावण के हाथों में मन्दोदरी का हाथ रखते हुए कन्यादाता मय कहते हैं—"इयम् ममात्मजा राजन् हेमयाप्सरसा धृता" (हे राजन्, यह मेरी बेटी है जिसे अप्सरा हेमा ने जन्म दिया है)। यहाँ पर सीता को राम के हाथ में सौंपते हुए जनक के कहे वचनों का अनायास स्मरण हो आता है—"इयं सीता मम सुता, सहधर्मचरी तव" (यह मेरी बेटी सीता धर्म के आचरण में तुम्हारा साथ देगी)। रावण के सन्दर्भ में धर्म का कोई उल्लेख नहीं होता है जबकि राम को सीता धर्मसंगिनी के रूप में प्राप्त होती है। इसका प्रमाण भी तत्काल मिल जाता है। मन्दोदरी को स्वीकार करने के लिए रावण मय का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं जबकि राम के मन में सीता के साथ विवाह करने की अपनी ओर से कोई उत्कट कामना दिखाई नहीं देती। गुरु विश्वामित्र का आदेश और पिता दशरथ का अनुमोदन सीता और राम के विवाह के लिए वेदिका प्रस्तुत करते हैं। रावण की विश्वसनीयता से पूर्ण रूप से आश्वस्त न होते हुए भी मय साहस बटोरकर और अपनी ही जोखिम पर अपनी बेटी को उसके हाथ सौंपते हैं, पर रावण को अलौकिक शक्तियाँ भी प्रदान करते हैं जिनको वह बाद में लक्ष्मण को पराजित करने के लिए काम में लाता है। कुछ भी हो, दैवी प्रेरणा मन्दोदरी को रावण की पटरानी बना देती है।

बाद में मन्दोदरी रावण की योग्य महिषी सिद्ध होती है। पति का अनन्य प्रेम उसे मिले या न मिले, पर वह तो अपने पति को ही जीवन का सर्वस्व समझती है। अचिन्त्य-कर्मा राम के हाथ में निहत रावण का मृत कलेवर देखकर वह रो पड़ती है, पर इस असह्य वेदना में भी वह अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोती है। पहले तो वह चकित हो जाती है कि मृत्यु के लिए भी मृत्यु बनकर सबको आतंकित करने वाले रावण ने कैसे एक साधारण मनुष्य के हाथ में अपने प्राण खो दिये। वह समझती है कि यह शायद स्वप्न है—"हा स्वप्नः सत्यमेवेदं त्वं रामेण कथं हतः"। तीनों लोकों को जीतकर तीनों लोक-नायकों की विशिष्ट सम्पत्ति का यथेष्ट उपभोग करने वाला लोक-नायकों का अधिनायक राम-सायक

से सदा के लिए नष्ट हो जाये, यह कैसे सम्भव है । इससे भी अधिक आश्चर्य उसे यह देखकर होता है कि इतना होते हुए भी मैं जीवित कैसे हूँ—"स्थिरास्मि या देहमिमं धारयामि हतप्रिया ।" इसलिए वह परलोक की यात्रा में पदार्पण करने वाले अपने पति से अनुरोध करती है कि वह अपनी चिरसंगिनी साध्वी पत्नी को भी अपने साथ ले चलें।

अपने पति के प्रति अपनी निष्ठा के सम्बन्ध में सोचते-सोचते वह पतिव्रता सीता का स्मरण करती है और कहती है—"पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले" (पतिव्रता स्त्रियों के आँसू अकारण धरातल पर नहीं गिरते)। इसी अनिष्ट का दुष्परिणाम वह अपनी आँखों के सामने देखती है। वह जानती है कि उसका पति अद्भुत पराक्रमशाली है। तीनों लोकों में कोई उसका सामना नहीं कर सकता। रावण को निहत समझकर सूर्य की किरणें लंका में निर्भीकता के साथ प्रवेश कर रही हैं—"अद्य वै निर्भया लंका-प्रविष्टाः सूर्यरश्मयः"। लेकिन पतिव्रता का शोक लंकाधीश के सर्वनाश का कारण बन जाता है। पति के प्रति अपार आदर और अनुराग होते हुए भी वह उदार और उदासीन भावना से कहती है—"पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोसि मे प्रभो" (पतिव्रता की तपस्या से मेरे प्रभु जलकर भस्म हो गये)। इसी भावना को और आगे बढ़ाते हुए वह कहती है कि जिस समय रावण ने सीता का अपहरण किया था, उसी समय उसे भस्म होना चाहिए था, पर देवता लोग उससे डरते थे। इसलिए अग्निदेवता रावण को जला नहीं सका, किन्तु अब कोई जिला भी नहीं सका।

"तदैव यन्न दग्धोसि धर्षयन्स्तनुमध्यमाम् ।
देवा बिभ्यति ते सर्वे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥"

पतिव्रता नारी ही पतिव्रता की महिमा पहचान सकती है। मन्दोदरी एक ऐसी लोकोत्तर पतिप्राणा साध्वी है जो स्वयं पति के पाप का फल भोगते हुए भी पातिव्रत्य की महिमा गाती है और साक्षात् अपने पति की मृत्यु की कारणभूता सीता का मुक्त कण्ठ से गुणगान करती है। अरुन्धती, रोहिणी आदि अलौकिक नारी-रत्नों से भी उच्च स्तर पर वह सीताजी को प्रतिष्ठित करती है। ऐसी साध्वी नारी का अपहरण कर रावण ने अपने अन्त को ही आमन्त्रित कर लिया है, इसी भावना को बार-बार मन में लाकर वह अत्यन्त दुःखी हो जाती है। लेकिन वेदना के इन विकल स्वरों में भी वह देवी जानकी के दिव्य गुणों का कीर्तन करने में अपनी अपरिमेय उदारता का परिचय देती है। सर्वमंगला सीता साध्वी का सुन्दर वर्णन मन्दोदरी के मधुर कण्ठ से सुनने योग्य है। वह कहती है—

"वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ।
सीता सर्वानवद्यांगीम् अरण्ये विजने शुभाम् ॥

धरती की सारी सम्पदा वसुधा के गर्भ में बसी हुई है। ऐसी वसुधा के लिए भी वसुधा का काम देने वाली सीता श्री के लिए भी सश्रीकता का स्रोत बन जाती है। उसके मंगलमूलक अंगों से पतिभक्ति की भावना प्रतिबिम्वित होती है। पति का वात्सल्य पाकर वह निर्जन वनों में भी निर्भय विचरण करती है।

मन्दोदरी की उदारता की पराकाष्ठा राम के गुणगान में देखी जा सकती है। अपने पति के प्राणों को हरने वाले व्यक्ति कितने भी उत्तम हों, उनके गुणों का निर्लिप्त और तटस्थ भाव से कीर्तन करना साधारण हाड़-मांस के पुतले के लिए सम्भव नहीं है। पर मन्दोदरी राम को देखते ही पहले उनको यमराज का प्रतिरूप समझती है क्योंकि उन्होंने कालान्तक रावण का संहार किया है। पर दूसरे ही क्षण वह राम के महिमामय व्यक्तित्व को और उस व्यक्तित्व में निहित दिव्यत्व को पहचान लेती है और कहती है—

> "व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।
> अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्॥
> तमसः परमो धाता शंख-चक्र-गदाधरः।
> श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः॥"

ये तो सनातन सत्ता परमात्मा महान् योगी के रूप में यहाँ प्रकट हुए हैं जिनका न कोई आरम्भ है, न मध्य और न अन्त। ये महान् से महान् हैं। पृथ्वी के अन्धकार से परे प्रकाशमान् शंख चक्र गदाधारी श्रीनिवास अपनी अनन्त सश्रीकता के साथ यहाँ मानव-शरीर में प्रत्यक्ष हुए हैं। इन्हें कौन पराजित कर सकता है? ये शाश्वत और अचंचल हैं।

फिर उसे याद आती है कि उसके कई बार समझाने-बुझाने और राम से दुश्मनी करने से कई प्रकार से मना करने पर भी भाग्य के मारे रावण ने उसकी एक न सुनी थी। उसे अनुभव होने लगता है कि राम की महानीयता को पहचान कर उनकी शरण में गये विभीषण का उद्धार हुआ और राम के साथ वैर ठान-कर रावण धराशायी हो गया। "शुभकृत् शुभमवाप्नोति पापकृन् पापमश्नुते" (भले का भला होता है और बुरे का बुरा) कहकर वह अपनी और अपने पति की दुर्गति से समझौता कर लेती है। किन्तु राम से वह किसी प्रकार की सुख-सान्त्वना या अनुकम्पा की अपेक्षा नहीं करती। राम की वह मूक प्रशंसा करती है, पर मुँह खोलकर उनसे कुछ नहीं माँगती। यह मानिनी मन्दोदरी के आत्म-सम्मान और आत्म-प्रत्यय की पराकाष्ठा है।

विषयी रावण का सीता की ओर आकृष्ट होना केवल उसकी भवितव्यता से प्रेरित है। अन्यथा मन्दोदरी में किस चीज़ की कमी है? वह राक्षसराज मय की इकलौती बेटी मन्दोदरी मान-मर्यादा, रूप-सौन्दर्य और गुण-गरिमा में किसी से

कम नहीं है। वह स्वयं इस बात की ओर संकेत करते हुए कहती हैं—

"न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली।
मयाधिका वा तुल्या वा तत्तुमोहान्न बुध्यते ॥"

मिथलेश की पुत्री सीता न कुल में, न रूप में और न अनुराग में मुझसे बढ़ कर है और भी कई दृष्टियों से वह मेरे बराबर भी नहीं है। पर मोह से अन्धे मेरे पति यह बात समझ नहीं पाये।

यह बात मन्दोदरी के मुँह से निकलती है तो कुछ अटपटी ज़रूर लगती है। पर वह रावण की दयनीय दशा और चित्त मोह के चिन्ताजनक परिणाम को देखकर यह बात कहती है। वैसे देखा जाये तो मन्दोदरी की इस धारणा में कोई अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती है। हनुमान् जब सीता की खोज में रावण के अन्तःपुर के कोने-कोने को छान लेते हैं और रावण के शय्यागृह में मन्दोदरी को देखकर सीता समझते हैं तो इस धारणा की पुष्टि होती है। और यह बिलकुल सहज स्वभावोक्ति मालूम पड़ती है। मन्दोदरी से भी सुन्दर रमणियाँ रावण के अन्तःपुर में हो सकती हैं और उनको हनुमान् ने बारीक़ी से देखा भी था। पर मन्दोदरी को सीता समझने का कारण केवल उनका भौतिक सौन्दर्य नहीं है, बल्कि उस सौन्दर्य के साथ-साथ उसमें छिपी हुई दिव्य आभा है जो आन्तरिक और बाह्य पवित्रता से दीप्त हो उठती है। पर विवेकी हनुमान् कुछ ही क्षणों में मन्दोदरी को सीता से अलग करने वाला उसका वास्तविक स्वरूप पहचान लेते हैं और फिर सच्ची सीता की खोज में चल पड़ते हैं। लेकिन इस घटना से मन्दोदरी का व्यक्तित्व बहुत ही निखर उठता है। हनुमान् जैसे पारखी को भी वह अपनी पविन्नता से प्रभावित कर सकती है तो उसका व्यक्तित्व साधारण नहीं कहा जा सकता है।

रामायण के कथाक्रम में मन्दोदरी का यही सबसे पहला प्रवेश है। रामायण के पाठक हनुमान् के साथ ही रावण के अन्तःपुर का पहला दर्शन करते हैं। उसके बाद शायद रावण-वध के बाद ही मन्दोदरी का दर्शन होता है। इस बीच में एक प्रसंग आता है जहाँ पर धान्यमालिनी के स्थान पर मन्दोदरी का नाम ग़लत लिया जाता है। लंका की अशोक वाटिका में ठहरायी गयी सीताजी के दर्शन के लिए रावण प्रतिदिन प्रभात समय अन्तःपुर की नारियों के साथ जाता है और प्रतिदिन व्यर्थ ही प्रेमयाचना करके निराश होकर प्रत्यावर्तित होता है। जिस दिन हनुमान् लंका पहुँच जाते हैं, उस दिन भी नित्य की भाँति रावण सीताजी के पास सवेरे ही पहुँच जाता है। उस समय हनुमान् भी वहीं उपस्थित होते हैं— पर शिंशपा वृक्ष के ऊपर पत्तों की आड़ में लुकछिप कर सब कुछ देखते और सुनते हैं। रावण के लाख कहने पर भी सीता उसकी बात नहीं मानती हैं और

उसे तिनके की तरह ठुकराती हैं। रावण क्रोध के आवेश में आकर सीता की जीवन-लीला समाप्त करने के लिए तलवार उठाता है। पर अन्तःपुर की स्त्रियों के, और विशेष रूप से एक सुन्दर स्त्री के कहने पर, वह अशोक वाटिका को छोड़कर अन्तःपुर की तरफ़ चल पड़ता है। इस सुन्दर स्त्री का नाम वाल्मीकि के वर्णन के अनुसार धान्यमालिनी है जो रावण से कहती है—

"मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया।
विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर॥"

हे महाराज, मेरे साथ तुम रमण करो, इस सीता के पीछे क्यों पड़े हो? इसमें न रंग है, न रूप है, न राग। तुम राक्षसों के स्वामी हो और यह सामान्य नारी है।

हनुमान् लंका से वापस जाने के बाद इस प्रसंग का वर्णन करते समय अपने साथियों से कहते हैं—

"वरा मन्दोदरी नाम तया स प्रतिषेधितः।
उक्तश्च मधुरां वाणीं तया स मदनार्दितः॥
सीतया तव किं कार्यं महेन्द्र सम विक्रम।
मया सह रमस्वाद्य मद्विशिष्टा न जानकी॥"

जानकी को मारने के लिए उद्यत रावण को उसकी पत्नी मन्दोदरी मना करते हुए मीठे शब्दों में उसे समझाती है और कहती है कि सीता को लेकर तुम क्या करोगे। आज मेरे साथ रमण करो। जानकी मुझसे अच्छी नहीं है।

हनुमान् के इस वर्णन में धान्यमालिनी के स्थान पर मन्दोदरी का ग़लत उल्लेख किया जाता है। ग़लत इसलिए कि वाल्मीकि के अनुसार वह धान्यमालिनी है, पर हनुमान् ने उसको मन्दोदरी समझा जिसे उन्होंने रात के समय अन्तःपुर में देखा था। पर हनुमान् की यह भूल समझ में आने वाली है क्योंकि मन्दोदरी को पहली बार देखने पर भी उन्होंने उसे जानकी समझा। वास्तव में धर्मलोप के भय से वह स्त्रियों को ध्यान से नहीं देखते हैं। जानकी का पता लगाने के लिए वह लंका में पहुँच गये हैं और स्त्री की खोज स्त्रियों के बीच ही सम्भव है। इसलिए वह अन्तःपुर की स्त्रियों को केवल इसी बात का पता लगाने के लिए देखते हैं कि यह कहीं सीता तो नहीं है। यह 'नेति नेति' की खोज है। इसलिए हनुमान् मन्दोदरी को सीता समझते हैं या धान्यमालिनी को मन्दोदरी समझते हैं तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है, बल्कि यह उनका विशिष्ट गुण है जो उनको सीताजी के अन्वेषण योग्य बनाता है।

अगर हनुमान् की धारणा सही है और अशोक वाटिका में रावण के साथ

चलने वाली यह सुन्दरी मन्दोदरी है तो इसमें मन्दोदरी का व्यक्तित्व और निखर उठता है। कुटिल काम-वासना के निर्लज्ज सेवक को अपने स्वामी के रूप में पाकर भी वह उसका साथ देती है तो उस साध्वी की सहिष्णुता के लिए इससे बढ़कर और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिए किसी भी स्थिति में हनुमान् की यह भूल मन्दोदरी के चरणों में फूल चढ़ाने वाली सिद्ध होती है।

वास्तव में मन्दोदरी के व्यक्तित्व की गरिमा उसके संयम और सहनशीलता में है। रावण के मृत कलेवर के सामने बैठकर वह केवल अपने भाग्य और अपने पति के मोह पर रोती है और किसी को दोषी नही बताती है। राम के अपरिमेय पराक्रम और जानकी के अनन्य अनुराग और सौशील्य की वह मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करती है। लेकिन इससे रावण के प्रति उसके आदर और आभार पर तनिक भी ठेस नहीं पहुँचती। वास्तव में वह कुछ बीती बातों को याद करके अपने पतिदेव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है। रावण की शारीरिक शोभा का स्मरण करते हुए वह कहती है—

> "स्निग्धेन्द्रनील-नीलं तु प्रांशु शैलोपमं महत्।
> केयूरांगद - वैदूर्य- मुक्ताहार- स्रगुज्ज्वलम्॥
> कान्तं विहारेष्वधिकं दीप्तं संग्राम-भूमिषु।
> भात्याभरणभाभिर्यद् विद्युद्भिरिव तोयदः॥"

वादल में बिजली की तरह चमकने वाला रावण का शरीर स्नेह से सना, इन्द्र नीलमणि की तरह चमकीला और पहाड़ की तरह विशाल है। उसके गले में मोतियों का हार और भुजाओं पर वैदूर्यमणि से खचित आभूषण बाहर घूमने जाते समय और समरांगण में वीर-विहार करते समय बहुत ही प्रकाश फैलाते थे।

जहाँ रावण के सौन्दर्य, शौर्य और धैर्य की वह सहर्ष प्रशंसा करती है, वहाँ उसके धर्म-विरुद्ध आचरण की निन्दा करने में भी वह संकोच नहीं करती है। "नारी चौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौण्डीर्य-मानिना" कहकर उसके घृणित और जघन्य अपराध का वह निर्ममता से उल्लेख करती है। पति का पाप पत्नी को भी पतित करता है। इसलिए वह अपने पतन को साहस के साथ स्वीकार करती है। इसका सारा दायित्व वह अपने पति पर नहीं डालती है। बार-बार वह अपने पति को समझाने की हर तरह की कोशिश करती है। पर देव का मारा रावण मन्दोदरी की मन्त्रणा सुन नहीं पाता। परम साध्वी समरभूमि में अनाथा की तरह रोती है। पर राम उनसे कुछ नहीं कहते, शायद कहने की आवश्यकता नहीं समझते हैं और कितना भी कहा जाये इस मर्मान्तक वेदना को शान्त करना उनके लिए

संभव नहीं हो पाता। राम मन्दोदरी को समझ लेते हैं और मन्दोदरी राम की मौन सान्त्वना को भी हृदयंगम कर लेती है।

मन्दोदरी की यह आन्तरिक गरिमा उसके प्रथम दर्शन में ही स्पष्ट हो जाती है जब हनुमान् उसे 'गौरी' मानकर समझने की कोशिश करते हैं।

> "ददर्श रूपसम्पन्नां अथ तां स कपिः स्त्रियम्।
> गौरीं कनकवर्णाभां इष्टां अन्तःपुरेश्वरीम्॥"

हनुमान् के इस अवलोकन में एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी, नवपदी आदि अनेक रूपों में प्रकट होने वाली अनन्त अन्तरिक्ष की अधिवासिनी गौरी का रूप प्रत्यक्ष होता है।

रामायण के कथा-संविधान में मन्दोदरी का वही स्थान है जो नौ दरवाज़े वाली महानगरी मानव-देह में सबका समाहार करने वाले सारगर्भित 'उदर' का है।

□

त्रिजटा

आदि कवि वाल्मीकि की आर्ष दृष्टि का स्पष्ट प्रतिविम्ब त्रिजटा के रोचक और रोमांचक स्वप्न में देखा जा सकता है। त्रिजटा का स्वप्न रामायण की रहस्यात्मक और ध्वन्यात्मक घटना है। त्रिजटा, वैसे राक्षस-परिवार की स्त्री है जिसको अन्य कई असुरांगनाओं के साथ अशोक वाटिका में सीता की रखवाली करने और उन पर निगरानी रखने के लिए रावण द्वारा नियुक्त किया गया था। पर वह अपनी सहेलियों की तरह राक्षस स्वभाव की नहीं है। जन्म और संसर्ग से वह राक्षस कुल की होते हुए भी संस्कार से सात्विक और सदय है। इसलिए वह अपनी सहेलियों को समझाने-बुझाने और सीता को सान्त्वना देने का प्रयास करती है। रावण-परिवार में पुरुषों में विभीषण और स्त्रियों में त्रिजटा अपवाद स्वरूप हैं। यही कारण है कि कई परवर्ती रामकाव्यों में त्रिजटा को विभीषण की बेटी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार गोविन्दराज भी इसी मत का समर्थन करते हैं। पर वाल्मीकि रामायण में इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। बल्कि कथासूत्र में त्रिजटा का प्रवेश कराते हुए वाल्मीकि उसको 'वृद्धा और प्रबुद्धा राक्षसी' कहते हैं। इसका सीधा मतलब यही लगाया जाता है कि वह एक बूढ़ी राक्षसी है जो तत्काल सोकर उठी है। इसी वाच्यार्थ के आधार पर कुछ समालोचकों ने उसके विभीषण की बेटी होने की बात का खण्डन किया है। वह विभीषण की बेटी हो या न हो, पर वृद्धा और प्रबुद्धा शब्दों को और कुछ गहराई के साथ देखने और परखने की आवश्यकता है।

हनुमान् के साथ बातचीत करते समय सीता कला नाम की एक और लड़की का उल्लेख करती हैं जिसे वह विभीषण की बड़ी लड़की बताती हैं। सरमा नाम की एक और बाला का भी नाम सुनने में आता है जो सीता के दुःख में सह-भागिनी बनकर उन्हें समवेदना और सान्त्वना देने का प्रयास करती है। पर इन तीनों में त्रिजटा का एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि भविष्य में होने वाली बात

वह अपने स्वप्न में प्रत्यक्ष देख पाती है। वह अपनी अच्छी बुरी सभी सहेलियों की तरह केवल उपद्रष्टा की भूमिका तक सीमित न रहकर द्रष्टा की उन्नत भाव-भूमिका तक पहुँच जाती है जिसे योगशास्त्र में मधुमती या विशोका भाव-भूमिका की संज्ञा दी जाती है। अशोक वाटिका के शोकाकुल वातावरण में भी वह विशुद्ध और विशोक भवितव्य का भव्य स्वप्न देखती है जिससे उसकी पहुँची हुई आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'वृद्धा' शब्द से इसी पहुँची हुई आत्मा का बोध होता है और इसके साथ प्रयुक्त 'प्रबुद्धा' शब्द इसी परिणति का परिपोषण करती है। यह पहुँची हुई आत्मा परम रमणीय स्वप्न देखकर प्रबुद्ध या जाग पड़ती है और दूसरों को भी मोह-निद्रा से जगाती है। लंका के पंकिल और संकर वातावरण में पली सामान्य राक्षस नारी को आत्मा के आलोक का साक्षात्कार करा कर रामायण के परमार्थ को अपने स्वप्न में चरितार्थ करने योग्य उदात्त भाव-भूमिका पर पहुँचाने वाले आदिकवि की आर्ष दृष्टि का जीता-जागता प्रमाण है— त्रिजटा और उसका स्वप्न।

जिस परिवेश में त्रिजटा यह स्वप्न देखती है, उसे भी सही ढंग से और समग्र रूप से समझाना ज़रूरी है। रावण के प्रलोभनों से त्रस्त और उसके अशोभनीय आचरण के क्षुब्ध वैदेही अशोक-वाटिका में अकेली तड़पती रहती हैं। रावण के चले जाने के बाद उसके द्वारा नियुक्त राक्षस-स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर वचनों से सीता को बहुत आतंकित करती हैं। इससे तंग आकर सीता उन महात्माओं का स्मरण करती हैं जो संयोग और वियोग के सुख-दुःख से परे होते हैं और उन देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों के भाग्य की सराहना करती हैं जो वन में विचरण करने वाले राजीवलोचन राम के दर्शन से अपने को धन्य बना लेते हैं। दुस्सह वेदना के दुर्बल क्षणों में वह अपने प्राणों को अपने आप समाप्त करने की बात तक सोच लेती हैं। जैसे ही सीता के मुँह से आत्महत्या की बात निकलती है तो उनकी रखवाली करने वाली राक्षसियाँ उनको जीते जी खा लेने की धमकी देने लगती हैं। ठीक इसी समय पर 'वृद्धा प्रबुद्धा' त्रिजटा अपनी सहेलियों को अपना स्वप्न-वृतान्त सुनाकर कहती है कि वह अपने आपको खा लें, पर सीता को नहीं, क्योंकि उसने सपने में सीता के शुभ और लंका के अशुभ की सूचना पायी है।

यह स्मरणीय है कि रावण अशोक वाटिका में सीता को मनवाने प्रभात के समय आया था और त्रिजटा उसके चले जाने के तुरन्त बाद अपने सपने की बात बताती है। इससे स्पष्ट होता है कि त्रिजटा ने यह स्वप्न प्रभात में ही देखा होगा। प्रभात का समय ब्राह्म मुहूर्त या अमृतवेला माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि उस समय देखा हुआ स्वप्न सत्य निकलता है। यह भी स्पष्ट है कि जब त्रिजटा ने स्वप्न देखा था तब उसकी सारी सहेलियाँ जागी

हुई थीं क्योंकि रावण वहीं मौजूद था। न मालूम त्रिजटा स्वप्न देखने के लिए कब सोयी और कब सोकर उठी थी। निश्चय ही यह कोई आकस्मिक और अल्प-कालिक घटना रही होगी। जैसे गीता में स्थितप्रज्ञ के बारे में कहा गया है कि जब सारा संसार सोता है तो संयमी जागा रहता है और जब संसार जागता है तब तापस जन सोते हैं, ठीक उसी प्रकार भविष्य के द्रष्टा की भूमिका निभाने वाली त्रिजटा का यह स्वप्न उसकी अवचेतन या अर्द्धचेतन सुषुप्ति अथवा योग-निद्रा का द्योतक है। वह न केवल भविष्य में होने वाली राम-विजय और रावण-पराजय का स्वप्न देखती है, बल्कि उसी दिन कुछ ही क्षणों के बाद हनुमान् के द्वारा होने वाले लंका-ध्वंस को भी सपने में देख लेती है। वास्तव में अशोक वाटिका में उस समय विद्यमान हनुमान्, सीता और रावण की मनोदशा और उसके सम्भाव्य परिणाम की स्वच्छ प्रतिच्छाया त्रिजटा के स्वप्न में अंकित हो जाती है। इतना ही नहीं, इन तीनों के मन में किसी-न-किसी रूप में अंकित राम भी त्रिजटा के स्वप्न में प्रत्यक्ष हो जाते हैं। रावण सीता को राम से हटाकर अपनी ओर खींचने का प्रयास करता है और इसके बिलकुल विपरीत हनुमान् सीता में राम की ही प्रतिच्छवि देखते हैं और दोनों को यथाशीघ्र मिलाने की बात सोचने लगते हैं। दोनों सीता के सौन्दर्य से प्रभावित हैं, पर दोनों के दृष्टि-कोण अलग-अलग हैं। यह सारा मनोमण्डल त्रिजटा के स्वप्नाकाश में स्पष्ट दिखाई देता है।

त्रिजटा स्वप्न में जो कुछ देखती हैं, वह भी ध्यान से विचार करने योग्य है। सबसे पहले त्रिजटा सफ़ेद कपड़े और सफ़ेद हार पहने हुए राम और लक्ष्मण को देखती है जो अन्तरिक्ष में निराधार चलने वाली हाथी-दाँत की दिव्य शिविका में बैठे हैं। हज़ार घोड़े उस शिविका को चलाते हैं। उसके बाद त्रिजटा को श्वेत वस्त्र पहने सीता दिखाई देती हैं जो समुद्र के बीच में उभरे हुए सफ़ेद पहाड़ पर राम के साथ ठीक उसी प्रकार विराजमान होती हैं जैसे सूर्य के साथ उसका प्रकाश। त्रिजटा को यह भी दिखाई देता है कि राम और लक्ष्मण अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाली शिविका को छोड़कर पहाड़ के आकार के पाँच दाँत वाले गजराज पर जा बैठते हैं और थोड़ी ही देर में जानकी भी उनके पास जा पहुँचती हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष में स्थित पर्वत के ऊपर हाथी पर बैठे राम, लक्ष्मण और सीता अपने ही प्रकाश से सुशोभित दिखाई देते हैं। उसके बाद राम की गोद में बैठी कमललोचना सीता पति के कन्धे के सहारे ऊपर उछलकर सूर्य और चन्द्रमा को अपने दोनों हाथों से परिमार्जित या प्रक्षालित करती हैं। इस प्रकार वह गजराज राम, लक्ष्मण और सीता के साथ धीरे-धीरे लंका के ऊपर आ जाता है। पर कुछ ही क्षणों में वहाँ गजराज के स्थान पर एक नहीं आठ वृषभराज दिखाई देते हैं जिनके द्वारा संचालित रथ पर विशालाक्षी सीता के साथ रघुकुल-

तिलक राम विराजमान होते हैं। उसके बाद राम, लक्ष्मण और सीता सूर्य के समान प्रकाशित होने वाले पुष्पक विमान पर चढ़कर उत्तर की तरफ़ प्रस्थान करते हैं।

यह त्रिजटा के स्वप्न का पहला भाग है जिसमें सीता, राम और लक्ष्मण की शोभा-यात्रा का सारगर्भित वर्णन है। यह ध्यान देने की बात है कि इस स्वप्न में पहले राम और लक्ष्मण दिखाई देते हैं और बाद में सीता और अन्त में तीनों एक साथ। उनके वाहन भी प्रत्येक दृश्य में बदल जाते हैं। पहले अन्तरिक्ष में विचरण करने वाली दिव्य शिविका, फिर समुद्र के बीच में सफ़ेद पर्वत, उसके बाद गजराज, गजराज के स्थान पर वृषभराज और अन्त में पुष्पक विमान। यात्रा उत्तर की तरफ़ चलती है। इन सभी बातों पर ध्यान से विचार किया जाए तो स्पष्ट पता चलता है कि राम और लक्ष्मण इडा और पिंगला के प्रतीक हैं जबकि सीता सुषुम्ना का प्रतिनिधित्व करती हैं। गजराज और वृषभराज मन और वाणी के प्रतीक हैं। पुष्पक विमान ही पुरुषोत्तम का परम पावन यान है जो मुक्तात्माओं को परम गति प्रदान करता है।

स्वप्न के उत्तरार्द्ध में पाप-जीवियों की दुर्गति का जुगुप्साजनक वर्णन मिलता है। इस खण्ड में सबसे पहले मूँड मुँडाये, तेल लगाये, मदिरा पिये, करवीर की माला और लाल-लाल कपड़े पहने रावण का पुष्पक विमान से धरती पर गिर पड़ना दिखाई देता है। यही नहीं, लाल चन्दन, लाल हार और काले कपड़े वाले रावण को कोई स्त्री घसीटकर ले जाती है और गधे वाले रथ पर उसे बैठा देती है। यह रथ दक्षिण की ओर चल पड़ता है। थोड़ी ही देर में राक्षस राजा रावण गधे से भी नीचे गिर जाता है और सिर के बल गिरने से वह डर जाता है। लेकिन दूसरे ही क्षण वह उठकर खड़ा हो जाता है और सम्भ्रम, भय और मदान्धता में वह अपनी सुध-बुध खोकर पागल जैसा व्यवहार करता है, नंगा बनकर गन्दी बातें करता है और दुर्गन्ध और अन्धकार से भरे हुए अगाध कुण्ड में वह डूब जाता है। वहाँ से उसे एक काली और बदसूरत महिला दक्षिण की ओर ले जाती है।

कुम्भकर्ण भी लगभग इसी हालत में देखे जाता है। रावण के पुत्र भी इसी प्रकार मूँड मुँडाये, तेल लगाये विकराल स्थिति में देखे जाते हैं। रावण फिर सूअर पर चढ़कर जाते दिखाई देता है, कुम्भकर्ण ऊँट पर और इन्द्रजित् सूंस पर।

लेकिन विभीषण निरापद और प्रसन्न-मुद्रा में दिखाई देते हैं। श्वेत वस्त्र, श्वेत माला और श्वेत छत्र के साथ सुशोभित विभीषण का शरीर चन्दन से लिप्त और अलंकृत दिखाई देता है। चारों तरफ़ नृत्य, गीत आदि मंगल दृश्य दिखाई देते हैं। बादल की तरह गरजने वाले और चार दाँत वाले दिव्य गजराज पर आरूढ़ विभीषण के पास उसके आज्ञाकारी सचिव विनय की मुद्रा में दिखाई देतेहैं।

स्वप्न के अन्त में रावण के द्वारा अब तक परिरक्षित लंकापुरी की दुर्गति का वर्णन मिलता है। राम का दूत बनकर लंका में प्रवेश किये एक वानर के द्वारा लंका का सर्वनाश त्रिजटा अपने स्वप्न में देखती है। वह देखती है कि गजबल, हयबल, रथबल आदि के साथ सारी लंका सागर में डूब जाती है और सारी राक्षस स्त्रियाँ लंका को भस्मीभूत देखकर विकट अट्टहास करती हैं और तेल पीकर नाचती हैं।

त्रिजटा अपने स्वप्न की ये सारी बातें बताकर अपनी सहेलियों को चेतावनी देती है कि अब जानकी ही सबकी शरण हैं। उसे पूरा-पूरा विश्वास है कि यह सारा स्वप्न निकट भविष्य में पूरा-पूरा सत्य बनने वाला है, पर जानकी इतनी मृदुल प्रकृति की हैं कि उनकी शरण में जाकर जो उन्हें एक बार नमस्कार करता है, उस पर वह प्रसन्न हो जाती हैं—"प्रणिपात प्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा"।

त्रिजटा के अनुमान को थोड़ी ही देर में समर्थन मिल जाता है जब सीता के अंगों में शुभसूचक लक्षण दिखाई देते हैं। उनकी बायीं आँख और बायीं बाँह अचानक फड़क उठती हैं। सामने पेड़ पर बैठा पक्षी मीठी-मीठी बोली सुनाता है। प्रकृत्या विनम्र और सुभाषिणी सीता कहती हैं कि यदि यह सही है तो तुम लोगों के लिए डरने की कोई बात नहीं है। इस प्रकार त्रिजटा का यह स्वप्न सबको आश्वस्त बनाता है। यह आश्वासन राम-कथा के 'अयन' का महत्त्वपूर्ण और मध्यम अवस्थान है। सुन्दरकाण्ड रामायण का केन्द्र है तो त्रिजटा का स्वप्न सुन्दरकाण्ड के सौन्दर्य का केन्द्र है। सर्वलोक-मनोहरी सीतादेवी के लोकोत्तर सौन्दर्य का दर्शन ही सुन्दर काण्ड की प्रधान कथावस्तु है। इस सौन्दर्य के प्रमुख द्रष्टा हनुमान् हैं और उसी सौन्दर्य को विपरीत दृष्टिकोण से देखने वाले प्रतिद्रष्टा रावण हैं। दोनों की दृष्टि का आलम्बन एक होते हुए भी उनकी भाव-भंगिमा एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। इसी परस्पर विरोधी दृष्टिकोण की भवितव्यता को त्रिजटा का स्वप्न प्रतिबिम्बित कर देता है। स्वप्न के वर्णन में बार-बार 'दृष्ट' और 'दृष्टा' शब्दों का प्रयोग होता है। त्रिजटा की सहेलियाँ बड़ी उत्कण्ठा से उससे पूछती हैं—"बताओ तो सही, तुम ने कौन-सा सपना देखा है—"कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि।" इसके उत्तर में त्रिजटा अपने स्वप्न के प्रत्येक काण्ड की घटना विस्तार से सुनाती है और बार-बार 'मया दृष्टः' 'मया दृष्टा' (मैंने देखा है, मैंने देखी है) का प्रयोग करती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि राम और रावण के लिए दो-दो बार इस धातु का प्रयोग किया जाता है। कुम्भकर्ण और विभीषण के लिए एक ही बार यह शब्द आता है और लंका के लिए फिर दो बार। कुल मिलाकर स्वप्न के पूरे वर्णन में 'दृश्' धातु का दस बार प्रयोग किया जाता है जिससे यह संकेत मिलता है कि

त्रिजटा की यह दृष्टि दसों दिशाओं तक व्याप्त समग्र दर्शन प्रस्तुत करती है। यह स्मरणीय है कि हनुमान् अपने साथियों को और राम को लंका का वृत्तान्त सुनाते समय भी सबसे पहले 'दृष्टा सीता' (सीता को मैंने देखा है) कहते हैं। हनुमान् की यह अमृतमयी वाणी सुन्दरकाण्ड का सत्त्व सार है और इस वाणी में वर्णित दृष्टि का ही प्रतिबिम्ब त्रिजटा के स्वप्न में पाया जाता है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि सीता, राम और लक्ष्मण का वर्णन करते समय 'शुक्ल' शब्द का और रावण परिवार के वर्णन में 'कृष्ण' शब्द का भी बार-बार प्रयोग किया जाता है। दोनों दो विपरीत दिशाओं के द्योतक हैं जैसा कि गीता में स्पष्ट किया गया है—

"शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते।
एकया यात्यनावृत्ति अन्ययावर्तते पुनः॥"

संसार में सदा से दो प्रकार के मार्ग चले आ रहे हैं। उनमें से एक शुक्ल या सफ़ेद है और दूसरा कृष्ण या काला है। एक सीधा है और दूसरा टेढ़ा है। एक मार्ग से जाने पर जाने वाला गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, फिर वापिस नहीं आता जबकि दूसरे मार्ग पर जाने वाला बीच में ही भटककर फिर वापस आ जाता है। यही मार्ग-द्वय त्रिजटा के स्वप्न में प्रस्तुत है और यही रामायण की सारी कथा से मिलने वाली सारभूत शिक्षा है। कहा भी गया है—"रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्"—राम और उनके परिजनों की तरह व्यवहार करना चाहिए न कि रावण-वर्ग की तरह।

इस स्वप्न के प्रसंग के बाद त्रिजटा फिर युद्धकाण्ड में भी दिखाई पड़ती है। युद्धभूमि में राम और लक्ष्मण नागपाश के प्रभाव में आकर थोड़ी देर के लिए बेहोश हो जाते हैं। इस अवसर का लाभ उठाकर रावण सीता को पुष्पक विमान में समरभूमि के ऊपर ले जाता है और मृतप्राय पड़े हुए दोनों भाइयों को दिखलाता है। भोली-भाली सीता बहुत ही चिन्ताग्रस्त हो जाती हैं। पर त्रिजटा, जो उनके साथ जाती है, समझाती है कि राम और लक्ष्मण सजीव हैं क्योंकि यह विमान सौभाग्यवती स्त्रियों को ही ले जाता है। यहाँ भी त्रिजटा सीता को सान्त्वना देने वाली सहचारी के रूप में प्रस्तुत है।

सीता की रक्षा करने वाला एक और पात्र रामायण में मिलता है और वह है जटायु। जटायु और त्रिजटा के नामों में जटा सामान्य है। जटा शब्द वैदिक वाङ्मय में भी आता है। वेदपाठ की एक विशिष्ट प्रक्रिया को जटा का नाम दिया जाता है। इसलिए वेदवती सीता की रक्षा का भार जटायु और त्रिजटा अपने ऊपर लेते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव में सीता माता वेदमाता ही हैं जिसके दर्शन के लिए रामदूत हनुमान् त्रिकूट पर अधिष्ठित

लंका नगरी का चप्पा-चप्पा ढूंढ़ लेते हैं और विषय-वासना के पंकिल वातावरण से माता को मुक्त बनाकर परम पिता परमात्मा राम से उनको मिलाने में सन्धाता का काम करते हैं—हनुमान्, त्रिजटा, जटायु आदि इसी महान् अनुष्ठान में योग देने वाले अनन्य साधक और आराधक हैं।

त्रिजटा शब्द में केवल जटा ही नहीं, बल्कि संख्या वाचक 'त्रि' (तीन) का भी प्रयोग है। एकजटा, द्विजटा, हरिजटा आदि नाम भी रामायण में मिलते हैं। इनमें त्रिजटा सीता से बहुत नजदीक रहती है। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल नाम के तीन लोक; जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएं; अकार, उकार और मकार के संयोग से बने प्रणव की तीन मात्राएं आदि त्रयी के अनेक सम्पुटों का प्रतीक है—त्रिजटा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संयोग सीता, राम और लक्ष्मण का है जो कि इडा, पिंगला और सुषुम्ना का समन्वित ऊर्ध्वायन है और यही रामायण का परमार्थ है। इसी परमार्थ को त्रिजटा अपने स्वप्न में चरितार्थ कर दिखाती है। रामायण के इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग को इस रूप में जो देख पाता है, वही शायद सही देखता है।

"यः पश्यति स पश्यति"

□

शूर्पणखा

मन्थरा और शूर्पणखा रामायण के दो ऐसे पात्र हैं जिनके कारण राम का अयन आगे बढ़ता है—बिल्कुल अप्रत्याशित दिशा में। लोकाभिराम राम के राज-तिलक की जब सारी अयोध्या प्रतीक्षा कर रही थी तो किसी ने कल्पना तक नहीं की कि यह राजतिलक वन-यात्रा में परिणत होने वाला है। पापदर्शिनी मन्थरा की कुमन्त्रणा से प्रेरित होकर ही कीर्तिकामिनी कैकेयी की सुप्त लालसा जाग उठती है और राम को अयोध्या से अलग करती है। इसी प्रकार शूर्पणखा का आकस्मिक आगमन और राम-लक्ष्मण का सहज सात्विक परिहास पंचवटी में राम रावण के वैर का बीजारोपण करता है और राम से सीता को अलग कर देता है। मन्थरा कैकेयी के लोभ को और शूर्पणखा रावण के काम को भड़का कर रामायण को अप्रत्याशित किन्तु अभीष्ट दिशा में ले चलती है। इस दृष्टि से शूर्पणखा का प्रसंग रामायण कथा की गति में महत्त्वपूर्ण योग देता है।

राम को प्राणों से भी प्यारी सीता की प्रतिद्वन्द्विनी बनकर शूर्पणखा पंचवटी में अचानक आ जाती है। गोदावरी के गद्गद सरित्प्रवाह में स्नान कर सीता, राम और लक्ष्मण पंचवटी की प्रशान्त छाया में हेमन्त की सुनहरी घड़ियाँ बिताते रहते हैं। एक दिन सवेरे के समय शूर्पणखा दण्डक वन में घूमते-घामते नयना-भिराम राम का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाती है और अपनी जिज्ञासा और वासना को सन्तुष्ट करने के लिए पंचवटी के आश्रम में पहुँच जाती है। राम का उज्ज्वल मुख-मण्डल, मांसल और मंजुल भुजाएँ, कमल की तरह खिले हुए और खुले हुए विशाल नयन, कोमल किन्तु पराक्रमी राम की लोकोत्तर शोभा शूर्पणखा को अनायास उनकी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वह राम को देखती है और राम भी उसे देखते हैं। पर दोनों में कितना अन्तर है! एक सुमुख हैं और दूसरी दुर्मुखी। एक की कमर पतली है और दूसरी लम्बोदरी है। एक की आँखें विशाल और निर्मल हैं और दूसरी विरूपाक्षी है। एक के बाल मुलायम हैं और दूसरी के ताँबे की तरह रंगीन हैं। एक की आवाज़ मधुर है और दूसरी की

आवाज़ डरावनी है। एक उम्र में छोटे हैं और दूसरी बड़ी और बूढ़ी है। एक सही रास्ते पर चलने वाले हैं और दूसरी ग़लत रास्ते पर। एक देखने में सुन्दर और दूसरी काम-वासना से पंकिल जुगुप्साजनक आकार लिये हुए है। दोनों के वेमेल आकार-प्रकार का जीता-जागता चित्र वाल्मीकि के शब्दों में देखने लायक़ है—

> "सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
> विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्द्धजा ॥
> प्रियं रूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना ।
> तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥
> न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना।
> शरीरज-समाविष्टा राक्षसी राममब्रवीत ॥"

शूर्पणखा सीधे राम से बोलने लगती है। राम की मुखमुद्रा और वेशभूषा देखकर वह समझ नहीं पाती है कि इतना पराक्रमी सुन्दर राजकुमार जटा-वल्कल पहनकर अपनी पत्नी के साथ जंगल में क्यों घूम रहा है। उसके पूछने पर राम सारा वृत्तान्त संक्षेप में सुनाते हैं और उसके बारे में जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। इस पर शूर्पणखा अपने माता-पिता या पति के बारे में कुछ नहीं कहती है। केवल अपने शूरवीर भ्राताओं का उल्लेख करती है और स्वयं को उनसे भी अधिक प्रभावशाली वताती है। अपनी प्रभविष्णुता, वर्चस्विता और उपयुक्तता को सिद्ध करने के प्रयास में वह सीता की निन्दा करने में भी संकोच नहीं करती है। शालीनता और लज्जा छोड़कर वह स्पष्ट शब्दों में राम से कहती है कि सीता जैसी दुबली-पतली और बदसूरत औरत उसकी योग्य जीवनसंगिनी नहीं बन सकती है। वह सलाह देती है कि रावण, कुम्भकर्ण, खर और दूषण जैसे शूरवीरों की योग्य भगिनी शूर्पणखा को अपनी सहचरी बनाकर वह अपना शेष जीवन आनन्द के साथ व्यतीत करें। वह इस बात का आश्वासन देती है कि उनके प्रणय-जीवन में बाधक सीता और लक्ष्मण को वह पल भर में खाकर समाप्त कर सकती है।

इस पर राम को हँसी आ जाती है और इस अजीब औरत को परेशान करने के लिए मज़ाक़ का सहारा लेते हुए वह कहते हैं—"मेरी तो शादी हो चुकी है। मेरी पत्नी मुझसे प्यार करती है और मैं भी उससे प्यार करता हूँ। मैं नहीं चाहता कि तुम जैसी योग्य और सुन्दर नारी मेरी उप पत्नी बनकर यथोचित सम्मान से वंचित हो जाये। अगर तुम्हारा मन करे तो उधर मेरा छोटा भाई बैठा है। देखने में बहुत सुन्दर है और वह अकेला भी है। चाहो तो उसे राजी कर लो।" इस पर शूर्पणखा प्रसन्न हो जाती है। भाई-भाई में उसे कोई विशेष

अन्तर नहीं दिखाई देता है। तत्काल वह छोटे भाई लक्ष्मण के पास पहुँच जाती है।

छोटे भाई बड़े भाई से कम चालाक नहीं हैं। शूर्पणखा का प्रेम-प्रस्ताव पाकर वह बड़ी सूझबूझ के साथ परिहास के स्वर में कहते हैं—"मैं स्वयं अपने प्रभु का आज्ञापालक सेवक हूँ और मैं नहीं चाहता कि तुम जैसी सुन्दर स्त्री सेवक की पत्नी बनकर दास्यता का अपमान सहे। तुम्हारे लिए मेरे बड़े भाई राम ही सर्वथा योग्य हैं और तुम भी उनके लायक़ हो। उनकी छोटी पत्नी बनने में कोई बुरी बात नहीं है, बल्कि फ़ायदा ही फ़ायदा है क्योंकि पत्नी जितनी छोटी हो, प्रेम उतना अधिक होता है।" मूर्ख नारी शूर्पणखा भाइयों के परिहास को अब भी समझ नहीं पाती। लक्ष्मण जब कहते हैं कि वह दुबली-पतली और बदसूरत सीता राम के लायक़ नहीं है तब भी वह अपने को सचमुच सीता से अधिक योग्य, सुन्दर और सुपात्र समझती है और फिर राम के पास पहुँच जाती है। अब की बार वह सीधे सीता के पास जाती है और उसको खा डालने की कोशिश करती है ताकि उसका रास्ता साफ़ हो जाये। अब राम सतर्क हो जाते हैं और लक्ष्मण को भी सतर्क रहने का संकेत देते हैं। बस, परिहास की सीमा समाप्त हो जाती है। राम का इशारा पाकर लक्ष्मण अपनी छुरी से शूर्पणखा के कान और नाक काट देते हैं। इस प्रकार शूर्पणखा घोर अपमान और असह्य वेदना के साथ रोते बिलखते चीखते-चिल्लाते फिर जंगल में उसी स्थान पर वापस चली जाती है जहाँ से वह आयी है—अपने भाई खर-दूषण के पास।

शूर्पणखा का नाक-कान कटा विकराल रूप देखकर उसका भाई खर घबरा जाता है। वह जानना चाहता है कि कौन ऐसा बहादुर दण्डक वन में निकल आया है जो उसके पराक्रम और उसकी बहन के प्रभाव की परवाह किये बिना उन दोनों का अपमान कर उनको भड़काने का साहस कर रहा है। खर की जिज्ञासा का समाधान करते हुए शूर्पणखा कहती है कि पंचवटी में वहीं आस-पास दो राजकुमार हैं जो देखने में सुन्दर, पराक्रमी और तेजस्वी दिखाई देते हैं और उन्हीं भाइयों ने उनको अपमानित किया है। यह ध्यान देने की बात है कि वह केवल राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य का ही नहीं, बल्कि सीता के अलौकिक सौन्दर्य का भी मुक्त कण्ठ से वर्णन करती है। इससे स्पष्ट होता है कि राम और लक्ष्मण के सामने वह सीता को जो बदसूरत और दुबली पतली कहती है, वह केवल राम और लक्ष्मण को लुभाने के लिए था। वास्तव में वह सीता के सौन्दर्य से भी बहुत प्रभावित है और यही भावना ईर्ष्या का रूप धारण करती है। राम और लक्ष्मण से अपमानित होने पर अब वही ईर्ष्या प्रतिहिंसा बन जाती है। अब उसका क्रोधावेश राम और लक्ष्मण की अपेक्षा सीता के प्रति अधिक है। इसीलिए वह अपने भाई खर से साग्रह अनुरोध करती है कि वह

अपना सारा पराक्रम दिखाकर उन दोनों भाइयों के साथ सीता को समाप्त कर दे ताकि वह अपनी प्रतिद्वंद्विनी का ख़ून पी सके। तभी उसके अन्दर की वेदना शान्त होगी।

अपनी प्रिय भगिनी को प्रसन्न करने के लिए खर अपने चौदह सेनापतियों को भेजते हैं जिन्हें राम पल भर में तहस-नहस कर देते हैं। अब उसे पता चलता है कि ये दोनों भाई साधारण मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् देवलोक से आये हुए अद्भुत पराक्रमी वीर हैं जैसा कि उसकी बहन ने कहा था। अब वह चौदह हज़ार राक्षसों को लेकर रणभूमि में पहुँच जाता है और यह प्रतिज्ञा करता है कि अगर वह अपने शत्रुओं का संहार नहीं कर सकता तो वह फिर वापस नहीं आयेगा। अकेले राम सारी सेना के साथ लड़ते हैं जबकि लक्ष्मण सीता की रखवाली करते हैं। राम की शरवर्षा के भीषण प्रकोप के सामने कोई नहीं टिक पाता और सब के सब समाप्त हो जाते हैं।

शूर्पणखा के मन में प्रतिहिंसा की भावना और अधिक बढ़ जाती है। वह अपने बड़े भाई रावण के दरबार में पहुँचाती है और सारा वृत्तान्त रावण को इस प्रकार सुनाती है जिससे उसके मन में राम के प्रति द्वेष और सीता के प्रति प्रेम समान रूप से पैदा हो जाये। राक्षस होते हुए भी शूर्पणखा बातचीत में कितनी चतुर और निपुण है, यह देखकर आश्चर्य होता है। वास्तव में वाल्मीकि के सभी पात्र—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—वाणी के धनी हैं। शूर्पणखा भी इसमें अपवाद नहीं है। राजसी ठाट-बाट से दरबार लगाये बैठे रावण की सभा में जब विरूपिता शूर्पणखा पहुँचाती है तो रावण इस अनिष्ट का कारण पूछता है। पर वह पहले अपनी करुण कहानी नहीं सुनाती। दण्डक वन में रावण की लापरवाही और खर-दूषण की असमर्थता के कारण फैली हुई अराजकता और शत्रुओं के भीषण आतंक की ओर वह रावण का ध्यान आकृष्ट करती है और विलासिता और सुख-लालसा में मत्त रावण को आलस्य की निद्रा से जगाती है। बात खोलते हुए वह राम और लक्ष्मण नाम के दो राजकुमारों के पराक्रम और 'अत्याचार' का विस्तार से वर्णन करती है और सीता के लोकोत्तर लावण्य का योगी को भी लुभाने वाला जीता जागता चित्र प्रस्तुत करती है। पद-लालसा और काम-वासना रावण की दो कमज़ोरियाँ हैं, इस बात का फ़ायदा उठाकर शूर्पणखा बड़ी विदग्धता के साथ उसे भड़काती है। यह सुनते ही कि खर और दूषण अपनी असंख्य सेना के साथ पदचारी राम के अमोघ शराघात के शिकार बन गये हैं, रावण सतर्क हो जाता है। सीता के शारीरिक सौन्दर्य का सजीव वर्णन सुनकर उसके अन्दर की विषय-लालसा भी उत्तेजित हो जाती है। राज्य को निष्कण्टक बनाने वाली राजकीय दायित्व-भावना की अपेक्षा सर्वलोक-मनोहरी सीता का संग पाने की इच्छा रावण में अधिक बलवती हो जाती है।

शूर्पणखा की वाग्विदग्धता ही इसका कारण है। सीता की कोमल केशराशि, सुन्दर सुकुमार नासिका, सुनहरी शरीर-कान्ति, चमचमाने वाली लालिमा से ललकने वाले नाखून, पतली कमर, बड़ी-बड़ी जाँघें और उभरे हुए उरोज शूर्पणखा के शब्दों में साकार होकर रावण को वासना-मूढ बनाते हैं। अन्त में वह कहती है कि जो जीवन में एक बार ही सही, उस सुन्दरी को अपनी बना ले और गले लगा ले, वह अनन्त काल तक अखण्ड आनन्द का अनुभव कर सकता है—जैसे अमरावती में इन्द्र। रावण की खुशामदी करते हुए वह आगे कहती है कि वास्तव में उस लोकोत्तर नारी के योग्य एक ही व्यक्ति है और वह है उसका भाई रावण। इसके बाद वह सफ़ेद झूठ बोलते हुए कहती है कि उसने सीता को अपने भाई की जीवन-संगिनी बनाने के लिए बहुत कोशिश की है और इसी प्रयास में उसके नाक-कान कट गये हैं। शब्दों के बने-ठने भयकर जाल में रावण फँस जाता है और मारीच को साथ लेकर दण्डक पहुँच जाता है। इस प्रकार शूर्पणखा राम-कथा के अगले चरण का सूत्रपात करती है।

सीता को राम से अलग करना ही शूर्पणखा का एक मात्र ध्येय है और इसमें वह बहुत हद तक सफल हो भी जाती है। सत्य और धर्म के सच्चे प्रवर्तक राम की साध्वी पत्नी सीता परम सत्य का साकार रूप हैं जिसे पदच्युत, भ्रष्ट और नष्ट करने में शूर्पणखा कोई कसर नहीं छोड़ती है। पर पावन वाणी के प्रतीक हनुमान् इस खोयी हुई दृष्टि को उसके सही द्रष्टा से मिलाने का सफल प्रयास करते हैं। वास्तव में राम की दृष्टि को राम से अलग करने का प्रयास करने वाली शूर्पणखा सत्ता और सत्य के सायुज्य की साधना में बाधा डालने वाली आसुरी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। सीता रामाक्षी है तो शूर्पणखा वामाक्षी है। यही दृष्टि-भेद शूर्पणखा के दृष्टि-दोष का कारण बन गया है और इस दोष का फल भी उसे भुगतना पड़ा। सर्वसत्तात्मक स्वामी की सहज सात्त्विक सुषमा को कलुषित दृष्टिकोण से देखने का यही परिणाम होता है। शूर्पणखा जैसे पात्र का प्रयोजन इसी शिक्षा के प्रसार में है।

जब शूर्पणखा राम के आश्रम में पहुँचाती है तब सीता समेत बैठे राम का वर्णन करते हुए वाल्मीकि चित्रा से युक्त चन्द्रमा की उपमा देते हैं। चित्रा नक्षत्र बड़ा ही विचित्र नक्षत्र है। यह लौकिक दृष्टि से घातक, पर पारलौकिक दृष्टि से परम फल का साधक है। इस नक्षत्र के दो भाग होते हैं—आधा भाग कन्या में होता है और आधा तुला में। इसी प्रकार लोकाभिराम राम की नयनाभिराम शोभा आधी सीता में और आधी शूर्पणखा में प्रतिम्बिबित है। पर यह बिम्ब मूल की शोभा बढ़ाने वाला है। दोनों बिम्ब संयत, समग्र और सम्पूर्ण हैं। इस सन्तुलन में बाधा डालने के लिए शूर्पणखा आती है। शूर्पणखा के असंयत प्रयास से राम, लक्ष्मण और सीता को तत्काल कुछ परेशानी ज़रूर होती है, पर अन्ततः सबके

कल्याण और लोक-मंगल की साधना में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त होती है।

भवितव्य बहुत प्रबल होता है। जो होना है सो होकर रहता है। राम जैसे मर्यादापुरुषोत्तम के मन में भी शूर्पणखा से कुछ परिहास करने की इच्छा होती है और लक्ष्मण भी इसी परिहास-प्रियता का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। पर बेचारी शूर्पणखा इस परिहास और व्यंग्य को बिल्कुल समझ नहीं पाती। वह तो कामातुर थी। कुल मिलाकर सबकी मनोदशा ने प्रसंग को इतना जटिल और नाजुक बना दिया है कि आगे की घटना नियति से निर्धारित विधि से होकर ही रही। परिहास, चाहे वह किसी भी रूप में हो, कभी-कभी बहुत भयंकर परिणाम का कारण बन सकता है, यह भी पंचवटी के प्रसंग से मिलने वाला एक हलका संकेत है।

शूर्पणखा कई दृष्टियों से भेद-भावना का सूत्रपात्र करती है। राम को सीता से अलग करना इस भेद-भावना का पहला सोपान है। फिर राम और लक्ष्मण को अपनी ओर आकृष्ट करने का असफल प्रयास और रावण के मन में सीता के प्रति आसक्ति की अदम्य भावना पैदा करने का प्रयास इस भेद-भावना के दो और सोपान हैं। पर शूर्पणखा का सारा प्रयास सीता और राम को मानसिक रूप से अलग करने में एकदम असफल हो जाता है। वाणी और अर्थ, जल और तरंग, चाँद और चाँदनी की तरह एक-दूसरे से घुले-मिले एक ही तत्त्व के दो रूप हैं—सीता और राम। शूर्पणखा के क्षुद्र प्रलोभन में पड़ने का सवाल राम के सामने उठ ही नहीं सकता। इससे भी अधिक दृढ़ता सीता के निश्चल और निश्छल मन में तब देखी जाती है जब सार्वभौम सम्पत्ति का स्वामी रावण तरह-तरह के प्रलोभन दिखाकर सीता को अपने वश में करने का निरर्थक प्रयास करता है। वह रावण की सारी सम्पत्ति, सौन्दर्य और पराक्रम को तिनके के समान ठुकरा देती हैं और अपने-रोम-रोम में राम को समाये बैठी रहती हैं। निष्ठा की इस पराकाष्ठा का बिलकुल विपरीत दर्शन शूर्पणखा के चरित्र में होता है। सीता की पवित्रता को पूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए शूर्पणखा बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि वह उतनी ही उलझी हुई और चंचल नारी है जितनी सुलझी हुई और विशुद्ध साध्वी सीता हैं। जानकी जितनी अन्तर्मुखी हैं, शूर्पणखा उतनी ही विषयवासिनी है।

यह अन्तर मैथिली और शूर्पणखा के नामों से भी स्पष्ट हो जाता है। मैथिली एकान्त भावना और ध्यान की मुद्रा में निमीलित नेत्रों का, और विशेष कर कनखियों की कमनीयता का, प्रतिनिधित्व करती हैं जबकि शूर्पणखा लम्बे-लम्बे नाखूनों से पहचानी जाती है। नाखून हाथों की शोभा तो बढ़ाते ज़रूर हैं पर अतिमात्रा होने पर दूसरों को आघात पहुँचाने में भी सक्षम होते हैं। इसीलिए मैथिली मौन साधना की मूर्ति हैं तो शूर्पणखा उन्माद, आक्रोश और प्रतिहिंसा का

प्रकट रूप है। वह पुरुषों से भी अधिक परुष है जबकि जानकी कम बोलती हैं और बोलती हैं तो नपे-तुले और मीठे शब्दों में बोलती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि के महिला-पात्रों में जितना वैविध्य है, उतनी ही गहराई है। चाहे महिला-पात्र हों या पुरुष-पात्र हों, प्रत्येक की अपनी विशेषता है, अपनी सार्थकता है और अपनी चरितार्थता है। वाल्मीकि के प्रत्येक अक्षर का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ही इस गहराई और सुघराई का पता चल सकता है—

"जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ"

□□